THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178368
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 84/V13C Accession No. G.H.188

Author वाजपेयी, भगवतीप्रसाद।

Title छलना। 1950

This book should be returned on or before the date last marked below.

छलना

छलना

पुरुष, नारी, कल्पना, कामना, निद्रा तथा विलास नामक
भाव-वृत्तियों का एक कला-पूर्ण रूपक

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई

द्वितीयावृत्ति १९५०

मूल्य दो रुपये आठ आने

गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली से मुद्रित ।
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, दिल्ली द्वारा प्रकाशित ।

प्रस्तावना

[१]

रूपकों का अस्तित्व संसार के सभी साहित्यों में न्यूनाधिक पाया जाता है। सबने रूपक को साहित्य का एक रुचिर अंग माना है। कुछ विद्वानों का मत है कि रूपक की सृष्टि भारतवर्ष ही में सबसे पहले हुई। ऋग्वेद आदि संहिताओं में अनेक स्थलों पर रूपक पाये जाते हैं। उस पुराने काल से आज तक इस देश में रूपकों का आदर होता आया है। महाभारत और पुराणों में छोटे और बड़े, एक-से-एक सुन्दर रूपक मिलते हैं, जिनको पढ़कर सहृदय पाठक चकित और विभोर हो जाते हैं; तथापि उनमें उसका स्थान गौण था। पाणिनि, पातंजलि और नाट्य-शास्त्रकार भरत के समय तक अनेक रूपक रचे गए, किन्तु उसके व्यवस्थित, सुसंस्कृत और प्रस्फुटित रूप का आरम्भ अश्वघोष ही से माना जाता है। उसका 'सारिपुत्र प्रकरण' उसके पश्चात् आनेवाले साहित्यकारों के लिए पथ-प्रदर्शक हो गया। यदि उसके समय के पूर्व नहीं तो उसके समय में 'रूपक' का स्थान गौण से विशेष हो गया। यद्यपि हमारे अगणित पुराने ग्रन्थ नष्ट हो गए हैं, फिर भी नाटकों और रूपकों का हमारे यहाँ अभाव नहीं है।

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमित्र ने सुप्रसिद्ध रूपक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की रचना की। तेरहवीं शताब्दी में यशपाल ने 'मोहराज-पराजय',

चौदहवीं में वेंकटनाथ ने 'सकल्प-सूर्योदय' और सोलहवीं में कवि कर्णपूर ने 'चैतन्य-चन्द्रोदय' और गोकुलनाथ ने 'अमृतोदय' की रचनाएं कीं। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में भी 'विद्यापरिणयन' और 'जीवनानन्द' नामक रूपकों की रचना हुई।

रूपक की एक तो व्यापक और दूसरी विशिष्ट परिभाषा है। सस्कृत-काव्य के आचार्यों ने काव्य को दो भागों में विभक्त किया है। एक तो श्रव्य और दूसरा दृश्य। दृश्य वे होते हैं जिनका अभिनय किया जा सके। इस परिभाषा के अनुसार कठपुतली के खेल, मूक अभिनय, भाण और रगमच पर खेले जानेवाले नाटक आदि भी रूपक के ही अग माने गए हैं। इसी व्यापक अर्थ में सस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग प्रायः होता है। तथापि रूपक की एक विशिष्ट और सकुचित परिभाषा भी की जाती है। इसके अनुसार रूपक उपमा का ही एक विशद रूप है। भेद केवल इतना है कि उपमा क्षणिक, चंचल, तरल और भावना-प्रधान है, किन्तु रूपक कल्पनात्मक होते हुए भी स्थिर, अभिनय-योग्य एव तर्कशील है। तर्कगर्भित होना उसका विशेष लक्षण है। इस परिभाषा के पोषकों का कहना है कि पद्य के नीहारा-च्छन्न वायवीय तारल्य को स्थिरता प्रदान करने एव गद्य की रूक्षता का निवारण करने के लिए ही रूपक की सृष्टि हुई है। कल्पना के सौन्दर्य को तर्क के पाश में लपेट लेने से रूपक का आविर्भाव हो जाता है।

इस प्रकार की रचनाएं यूरोप में भी पुराने समय से होती रही हैं। तेरहवीं शताब्दी में फ्रांस में इस प्रकार के साहित्य की अच्छी उन्नति हुई। 'रोमाँ दलारोज़' नामक रूपक सैकड़ों वर्षों तक बड़े आदर के साथ पढ़ा जाता था। फ्रांस से प्रभावित होकर इगलैंड में भी उसकी वृद्धि हुई। स्पेन्सर की

'फ़ेयरी क्वीन' और बनियन का 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' उसके अच्छे प्रमाण माने जाते हैं। बेन जान्सन आदि आलोचकों की राय में स्पेन्सर के छन्द और भाव दोनों अरुचिकर हैं, किन्तु महाकवि मिल्टन स्पेन्सर को गम्भीर कवि और द्रष्टा मानते हैं। लेम्ब उसे 'कवियों का कवि' और डाउडन उसे 'गुरु' की पदवी देते हैं। योरप में अनेक कारणों से रूपक की परिपाटी का ह्रास हो गया, किन्तु अभाव नहीं हुआ। इस संकुचित परिभाषा को दृष्टि में रखकर उपर्युक्त संस्कृत ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है; अन्यथा वे अपना विशेषत्व खोकर साधारण नाटक श्रेणी में रख दिये जाते।

हिन्दी-साहित्य में भी रूपक पहले ही से पाया जाता है। संस्कृत-साहित्य का तो प्रभाव उस पर पड़ा ही है, किन्तु वह फ़ारसी साहित्य से भी पूर्ण-तया प्रभावित हुआ है। उसका सूक्ष्म रूप हमें कबीरदास आदि संतों की रचनाओं एवं वैष्णव कवियों के काव्य में अनेक स्थलों में मिलता है। किन्तु जायसी के पद्मावत में उसका पूर्ण विकास हुआ है। कुछ साहित्य-सेवियों की सम्मति में सारा वैष्णव-साहित्य ही अन्ततोगत्वा अपूर्व, स्थायी और व्यापक रूपक है। सूफ़ी कवियों ने अपने सिद्धान्तों को सुगम और रोचक बनाने के लिए रूपकों का ऐसा आश्रय लिया कि हिन्दी में साहित्य का एक विशेष विभाग निर्मित हो गया। किन्तु हिन्दी के साहित्यकारों ने गद्य अथवा नाटकों की शैली में रूपकों की रचना की चेष्टा ही नहीं की। वस्तुतः हिन्दी के पूर्व अथवा माध्यमिक काल में गद्य की कोई उल्लेखनीय उन्नति ही नहीं हुई। कुछ संस्कृत नाटकों का अनुवाद अवश्य किया गया, किन्तु नये और मौलिक नाटक लिखने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। अनुवादित

नाटकों में 'प्रबोध-चन्द्रोदय' भी है, जिसका अनुवाद ब्रजवासीदास ने किया।

हिन्दी के आधुनिक काल में बाबू हरिश्चन्द्र ने नाटकों की ओर ध्यान दिया। उन्होंने कई संस्कृत नाटकों के अनुवाद किये और कुछ स्वतन्त्र नाटक भी रचे। उन्होंने रूपक भी बाँधे हैं, किन्तु उनमें उनको बहुत सीमित सफलता मिल सकी। उनके समय से आज तक दर्जनों नाटक लिखे गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी-नाटककारों को अधिकतर पौराणिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक कथानक अधिक प्रिय और रुचिकर हैं। इधर कुछ गिने-चुने साहित्य-प्रेमियों ने सामाजिक और समस्या-गर्भित नाटकों की भी रचना आरम्भ कर दी है, किन्तु ऐसे नाटकों की संख्या बहुत कम है। या तो सामाजिक विषय कहानी, उपन्यासों आदि के लिए ही उपयुक्त समझे जाते हैं, अथवा नाटककारों का ध्यान यथेष्ट रूप से उनकी ओर गया ही नहीं। सामाजिक नाटककारों ने या तो पूर्व-परिचित पातिव्रतधर्म की प्रतिष्ठा की है, या मद्यपान, जात-पाँत के दुष्परिणामों के चित्रों अथवा यूरोपीय दृष्टिकोण से कल्पित समस्याओं की रचना की है। आशा है कि ऐसे नाटकों की दिनों-दिन वृद्धि होती रहेगी। किन्तु रूपकों का अभी तक हिन्दी में अभाव ही है। इस अभाव की पूर्ति करने के लिए ही श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'छलना' की रचना करके पथ-प्रदर्शन किया है।

'छलना' के पात्रों, कथानक और रीति में वाजपेयीजी ने नवीनता रखी है। संस्कृत रूपकों के रचयिता धर्म अथवा सम्प्रदाय-विशेष के उत्कर्ष को ही अपना ध्येय मानते थे। हाँ, बाबू हरिश्चन्द्र ने राजनीतिक पुट देने की अवश्य चेष्टा की है, किन्तु न तो उनकी इन रचनाओं में गम्भीरता है और

न कोई स्थायी गुण ही है। वाजपेयीजी ने 'छलना' में बाबूसाहब की रचनाओं के दोषों से बचने की चेष्टा की है और उनको सफलता भी मिली है। रूपकों में एक दोष यह भी होता है कि वे प्राय: गरिष्ठ और उबा देनेवाले होते हैं। इसी कारण यूरोप में उस परिपाटी का ह्रास हो गया। वाजपेयीजी ने इस दोष को भी बचाया है। आपके रूपक में नवीनता, कौतूहल, विचार, काव्य और रोचकता का समाहार है। इन बातों को सोचकर 'छलना' का महत्व और बढ़ जाता है। आपने अभिनय के योग्य उसे बनाने में भी कोई कसर उठा नहीं रखी।

'छलना' में किसी विशेष धर्म, सम्प्रदाय अथवा धर्म-प्रवर्तक की श्रेष्ठता स्थापित करने एवं दुरूह दार्शनिक सिद्धान्तों को सुगम बनाने या प्रतिपादन करने की चेष्टा नहीं की गई है। यह अवश्य स्पष्ट है कि इस रूपक में आदर्शवाद की प्रधानता और महत्वपूर्ण आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। किन्तु यह भी इतनी कुशलता से किया गया है कि वह खटकता नहीं। आदर्शवादी होने और साहित्य में आदर्शवाद की आवश्यकता मानने के कारण वाजपेयीजी की रचना में आदर्शवाद की प्रधानता अनिवार्य-सी हो गई।

किन्तु आदर्शवाद की उपासना में वाजपेयीजी इतने मुग्ध नहीं हुए कि उन्होंने यथार्थ अथवा वस्तुवाद के साथ अन्याय किया हो। यथार्थवाद का चित्रण भी आपने बड़ी सहृदयता और सहानुभूति के साथ किया है। आपका तात्पर्य शायद यह है कि कल्पना जब तक आदर्श की छत्र-छाया में फलती-फूलती रहती है और कामना आदर्श की गोद में खेलती रहती है, तब तक वे कल्याण के साथ रहती हैं। किन्तु जब वे आदर्श को छोड़कर खुल

खेलने के लिए चल देती हैं तब वे बिना लंगर अथवा पतवार की नौका की तरह हो जाती हैं ; मानव-व्यापार के झंझावात एवं जीवन-सागर की निष्ठुर लहरों से प्रताड़ित होकर या तो नष्ट ही हो जाती हैं या जीर्ण-शीर्ण होकर व्यर्थ हो जाती हैं। दोनों ही दशाओं में परिणाम शोचनीय ही होता है, जीवन दुःखमय और व्यर्थ हो जाता है।

'छलना' में किसी आदर्श-विशेष की रूप-रेखा नहीं रखी गई। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह भोग विलास, आमोद-प्रमोद और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति-मात्र से ऊपर है। उसमें आत्मविश्वास और आत्म-गौरव है। किन्तु कोरा आदर्श भी छलना से खाली नहीं। आदर्श की प्राप्ति और उसकी अनुभूति के लिए यह उचित और सम्भवतः आवश्यक है कि जीवन के अन्य अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध का भी ध्यान रखा जाय। जो कामना, कल्पना आदि जीवन को अन्त में विषमय कर देने की शक्ति रखती हैं, वे ही उसको सुखमय बनाने की क्षमता भी रखती हैं। इस रहस्य के ज्ञान के बिना जीवन सार्थक नहीं होता और सच्चा सुख नहीं मिलता। इसका सम्बन्ध ग़रीबी या अमीरी से नहीं है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता है और इसमें आत्मानन्द है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के स्पष्टीकरण में वाजपेयीजी ने कथानक की अवहेलना नहीं की है। चरित्र-चित्रण, मानसिक व्यापारों और भावों का भी आपने ध्यान रखा है। कथानक रुचिकर और विनोदवर्द्धक है। उसके पात्र प्रायः नवीन हैं। 'कल्पना', 'कामना' और 'निद्रा' तीनों स्त्रियाँ भिन्न मात्राओं में नवीन दृष्टिकोण रखती हैं, यद्यपि उनकी अन्तरात्मा में भी आदर्श की चिनगारी छिपी हुई है। केवल ग़रीब 'चम्पी' पुराना दृष्टिकोण रखती है।

इसी प्रकार 'विलासचन्द्र' और 'नवीन' आधुनिक दृष्टिकोण रखते हैं। 'बलराज' आदर्शवादी होता हुआ भी नवीन दृष्टिकोण से वंचित नहीं है। पुराने और नये दृष्टिकोणों का छलना में अच्छा समन्वय हुआ है। प्रत्येक पात्र के मनोविकारों का सहानुभूतिपूर्वक और मार्मिक चित्रण हुआ है। भाषा भी परिमार्जित, सुन्दर, सरस और प्राय: सुबोध है।

'छलना' में चार गीत भी हैं। वे भी भावपूर्ण और चुटीले हैं। उनका प्रयोग भी उपयुक्त स्थानों पर किया गया है। वे आलाप के भाव को बड़ी सुन्दरता से प्रतिबिम्बित और प्रकाशित करते हैं। काव्य की दृष्टि से भी वे अच्छे हैं और मनोवृत्ति और सिद्धान्त की रक्षा अच्छी तरह करते हैं।

यह कहना तो अतिशयोक्ति होगी कि 'छलना' में किसी प्रकार की कमी नहीं। सर्वथा दोषहीन रचना तो शायद युग में एक ही आध होती है। 'छलना' में भी इधर-उधर तराश और माँजने की गुंजायश है। किन्तु ऐसे नये, कठिन और कोमल काम के करने में वाजपेयीजी को जितनी सफलता मिली है वह सर्वथा सराहनीय है। आपकी साहित्यिक तपस्या और विदग्धता की यह सुन्दर कलिका है। कहानी, उपन्यास और कविता लिखने में तो आपने अच्छा स्थान प्राप्त कर ही लिया है। हिन्दी-साहित्य के प्रेमियों से आशा है कि वे इस नये क्षेत्र में भी आपका स्वागत करते हुए आपके प्रयत्नों का यथेष्ट आदर और उत्साह का प्रवर्द्धन करेंगे।

प्रयाग
२८-११-३६

रामप्रसाद त्रिपाठी
एम्. ए., डी. एस्-सी.

प्रस्तावना

[२]

"**छलना**" सामाजिक रूपक नहीं है, यद्यपि उसकी प्रधान समस्या स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध है, जो समाज की मूल भित्ति है। कृषिजीवी सभ्यता से निकलकर मनुष्य जब व्यावसायिक सभ्यता के क्षेत्र में आया, तभी से उसके पुराने आदर्श शिथिल होने लगे। इस पुरातन आदर्श के शैथिल्य से आज के समाज में वैयक्तिकता का प्राधान्य हो गया है। और अद्भुत विरोधाभास यह है कि फिर भी सामाजिक जीवन अधिकाधिक जटिल होता जा रहा है। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध भी इसीलिए जहाँ एक तरफ़ वैयक्तिकता द्वारा चालित हो रहा है, वहाँ दूसरी तरफ सामाजिक जटिलता के द्वारा नियन्त्रित भी हो रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि व्यक्तिगत जीवन में बन्धनहीनता और पारिवारिक जीवन में सामाजिकीकरण का ज़ोर है। एक तरफ प्रेम-विवाह, परीक्षणात्मक विवाह (ट्रायल मैरेज) और तलाक़ों की धूम है और दूसरी तरफ रंधनशालायें टूट रही हैं और होटल आबाद हो रहे हैं; सूइयों में मोर्चे लग रहे हैं और फ़ैक्टरियाँ बढ़ रही हैं; बच्चे घट रहे हैं और मातृ-सेवासदनों की बाढ़ आ गई है। ऐसे समय में संसार के सभी विचारशील मनुष्य भविष्य की चिन्ता से व्याकुल हैं।

श्री भगवतीप्रसादजी वाजपेयी ने भी इस नाटक में अपनी चिन्ता और उसके समाधान की ओर इशारा किया है। उनकी चिन्ता वर्तमान पर केन्द्रित नहीं है; उनके मत में यह एक शाश्वत समस्या है, वर्तमान ने उसे अपने ढंग की अभिव्यक्ति-मात्र दी है। इस तथ्य को प्रकट करने के लिए उन्होंने तीन स्त्री-पात्रों की कल्पना की है। ये व्यक्ति नहीं हैं, जो वर्तमान सभ्यता की समस्या हैं; ये समाज के प्रतिनिधि भी नहीं हैं, जिनकी ओर वर्तमान सभ्यता आशा या निराशा की दृष्टि से देख रही है। ये टाइप हैं जो सदा रहेंगे और समाज और व्यक्ति के सामने सदा किसी-न-किसी रूप में प्रकट होते रहेंगे। तीन स्त्रियाँ हैं—कल्पना, कामना और चम्पी। प्रथम दो क्रमशः राजसिक और तामसिक वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, (कामना का ही दूसरा रूप निद्रा है) और तीसरी तमोभिभूत और सात्विक प्रकृति की है। दो पुरुष बलराज और विलासचन्द्र हैं, जो सात्विक और राजसिक वृत्तियों के प्रतिनिधि हैं। चम्पी अपने दो भिखमंगे साथियों के साथ केवल प्रथम दो चरित्रों—कल्पना और कामना (और उन्हीं के साथ बलराज और विलास) के रंग को और भी गहरा कर देने के लिए आती है। वह मूल घटना से एकदम निर्लिप्त होकर भी मूल घटना के प्रभाव को अत्यधिक प्रभावित करती है। लेखक ने बड़े कौशल से उसे और उसके साथियों को रखकर भी नाटक का इतना महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया है। यद्यपि लेखक मानव-चरित्र के शाश्वत प्रश्नों की ओर ही अधिक सचेत है, तथापि उसने आधुनिक वैयक्तिकता का स्वरूप उद्घाटित किया है और इस प्रकार आधुनिक पाठक को अपनी बात सुनाने का अनुकूल अधिकारी बना लिया है।

यह कार्य भी बड़े कौशलपूर्ण ढंग से किया गया है। लेखक की सबसे बड़ी सफलता यही है।

बलराज कल्पना को सन्तुष्ट करने का बहुत प्रयत्न करता है, पर वह सन्तुष्ट नहीं होती। उसने विवाह को असन्तुष्ट वृत्तियों को सन्तुष्ट करने का साधन मान लिया है। उसके जीवन में और कोई लक्ष्य नहीं है। वह कहती है कि 'शारीरिक भोग से परे कोई आत्मिक आनन्द नामक वस्तु संसार में है, मैं नहीं जानती।' और यही सारे असन्तोष का मूल है। वह जीवन के ऐहिक सुख-भोगों को सब कुछ मान लेती है, वे जब दूर रहते हैं, मनोहर लगते हैं; जब पास आते हैं तब पिपासा को और जगाकर लोप हो जाते हैं। कल्पना वैयक्तिक स्वाधीनता की पक्षपाती है, वह स्त्री-स्वाधीनता को भी चाहती है, पर इन दोनों प्रकार की स्वाधीनताओं का कोई आत्म-निर्धारित स्वरूप उसे नहीं मालूम। आधुनिक स्त्री की यह भी एक बड़ी समस्या है। वह यह तो जान गई है कि उसे पराधीन रहकर नहीं रहना है, पर स्वाधीन रहकर कैसे रहा जाय, यह अभी तक वह स्थिर नहीं कर सकी। कल्पना इस विषय में औसत आधुनिक स्त्री की मनोवृत्ति को ठीक-ठीक उपस्थित करती है—'तुम पार्क में घूमने जा सकते हो; मित्रों में मनोविनोद कर सकते हो; नाटक, सरकस और सिनेमा देख सकते हो: नित्य कपड़े बदलते रहने का तुम्हें पूरा अधिकार है; किन्तु स्त्री तो जड़ पदार्थ है न? खुली वायु में घूमना-टहलना, सखियों का संसार बनाना, उनसे मिलना और उनके साथ कहीं आना-जाना, घूमना और अपने लिए आवश्यक वस्त्राभूषणों की याचना करना स्त्री के लिए न कभी आवश्यक है न आनन्दकारक।

तुम यही न कहना चाहते हो ?' वस्तुत: यह पुरुष की नक़ल है, इसमें आत्मोद्भावित किसी आदर्श का चिह्न नहीं है ।

इसी स्थान पर लेखक आधुनिक स्त्री की समस्या को छूकर हट गया है । यहीं हम आधुनिक शिक्षित स्त्री की वास्तविक समस्या के नज़दीक आते हैं । व्यावसायिक सभ्यता के वातावरण में जो मध्यवित्त परिवार पनप उठे हैं वहीं यह समस्या है । इस परिवार का पति बहुत व्यस्त है और पत्नी एकदम कर्महीन । उसे रधनशाला से छुट्टी मिल गई है, बच्चों से फ़ुरसत है, व्रत-उपवास के बखेड़े में नहीं पड़ना है, भजन-भाव से कोई रिश्ता नहीं है—वह क्या करे ? बहुत दूर जाकर लेखक एक बार कल्पना से कहलवाता है कि—'किन्तु मैंने अनुभव किया, उनके बिना इन वस्तुओं की प्राप्ति का कोई महत्त्व नहीं ।' प्रसारित प्रश्न का यह एक संकुचित उत्तर है ।

कल्पना के बग़ल में चम्पी है । भीख मांगती है, अपने अन्धे और कोढ़ी साथियों के साथ सड़क के एक किनारे पड़ रहती है । पति ने उसे निकाल दिया था—फिर भी वह सुखी है, सन्तुष्ट है, क्योंकि उसके जीवन में एक लक्ष्य है, एक व्रत है, एक साधना है । आधुनिक शिक्षा ने उसे वैयक्तिक स्वाधीनता का पक्षपाती नहीं बनाया, स्त्री-स्वातंत्र्य का नाम भी उसे नहीं मालूम, रुपये-पैसे की भरपूर आमदनी नहीं होती, सुख-विलास की कोई कल्पना भी उसके निकट नहीं है—फिर भी वह सन्तुष्ट है, क्योंकि न तो उसका जीवन कर्महीन और एकाकी है और न लक्ष्यहीन और उच्छृंखल ।

तो क्या चम्पी ही लेखक का जवाब है ? जिस आग्रह के साथ कल्पना, कामना और विलास के साथ-ही-साथ चम्पी को लेखक घसीटे जाता है

उससे यही सन्देह होता है कि चम्पी उसका आदर्श है। अगर ऐसा है तो लेखक आधुनिक पाठक को ठीक नहीं समझता, वह आधुनिक समस्या को भी ठीक नहीं समझता। आधुनिक पाठक विद्रोह के साथ कहेगा—अज्ञान-निर्धारित सन्तोष से ज्ञान-चालित असन्तोष हज़ार-गुना श्रेष्ठ है।

चम्पी सात्विक प्रकृति की ज़रूर है, पर उसकी सात्विकता तमः-प्राकृतिक है; वह अज्ञान से आवृत है। वह आदर्श नहीं हो सकती। एक ग़लत-सही वस्तु पर एक ग़लत-सही ढंग से विश्वास कर लेने में सन्तोष ज़रूर है ; पर वह सन्तोष पशु-सुलभ है, अतएव काम्य नहीं है। यह कहना कि मनुष्य बुद्धिमान जन्तु है उतना ठीक नहीं, जितना कि यह कहना कि वह बुद्धिवृत्तिक जन्तु है। संसार की प्रत्येक वस्तु में बुद्धि को सन्तुष्ट कर सकने लायक सत्य जब तक उसे नहीं मिलता, तब तक वह किसी सुख को सुख नही मान सकता, किसी सन्तोष को सन्तोष नहीं मान सकता। उसने परस्पर-विरोधी घटनाओं में बुद्धि-तोषक सामान्य नियम निकाल लेने के लिए अपने प्राणों तक की परवाह नहीं की है। उससे किसी अज्ञान-गर्भित आदर्श की ओर ले जाने की चेष्टा चाहे जितने कलापूर्ण ढंग से कही गई हो, प्रतिक्रियात्मक और अग्राह्य है। आधुनिक स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध दुःखजनक ज़रूर है, पर वह ज्ञान-चालित है, मनुष्य उसका आग्रह छोड़ नहीं सकता ; छोड़कर पशु हो जायगा।

परन्तु वस्तुतः बात यह नहीं है। चम्पी लेखक का जवाब नहीं है। अगर चम्पी मूल घटना के साथ किसी प्रकार सम्बद्ध होती, तो यह सन्देह किया जा सकता था। पर लेखक ने उसे बिलकुल निर्लिप्त रखा है। वह आदर्शहीनता के काले रंग को गहरा-भर कर देने के लिए आती है। लेखक

उसकी ओर उंगली नहीं उठाये हुए है कि देखो वह आदर्श है; बल्कि कल्पना की ओर उंगली उठाये है कि लो, देखो, सब होते हुए भी यह कितना बेतुका है। इसका प्रमाण नाटक की अंतिम पंक्तियों में पाया जाता है, जब बलराज (आदर्श पुरुष) के मुख से यह कहलवाया गया है कि—'मनुष्य की आत्मा के साथ विलास का ऐसा कुछ सम्बन्ध है कि आदर्श का संपर्क होते ही वह अन्तर्धान हो जाता है।'

आदर्शहीनता ही आधुनिक जीवन की समस्या है। वही मनुष्य को विलासिता की ओर खींचे लिये जा रही है। वैवाहिक सम्बन्ध में या व्यक्तिगत सम्बन्ध में इस आदर्शहीनता के कारण ही हम शुरू में ही एक बड़ी भूल कर बैठते हैं कि कोई सम्बन्ध हमारी किसी-न-किसी असन्तुष्ट वृत्ति को सन्तोष देने के लिए है। मनुष्य में जो वृत्तियाँ वर्तमान हैं उनको हम चरम लक्ष्य मान लेते हैं। वस्तुतः ये वृत्तियाँ वह कच्चा माल (raw material) हैं जिनसे किसी श्रेष्ठतर वस्तु का निर्माण होना चाहिए। उनका सदुपयोग हुए बिना वे तीन कौड़ी की भी नहीं हैं। बड़े ही ग़लत तरीकों से, वैयक्तिक स्वाधीनता की आड़ में, इसका समर्थन किया जाता है। नये-नये शब्दों के गढ़ने से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। आदर्शहीन मन अपने समाधान के लिए ऐसे अनेक धन्धों को ढूँढता फिरता है, जिन्हें वह आत्माभिव्यक्ति का नाम देकर अपने को और दुनिया को धोखा देना चाहता है। इस नाटक में गान-बजान सीखने के बहाने कल्पना और कामना में इस अभिव्यक्ति का आभास पाया जाता है। पर इस कला-प्रेम का कोई आदर्श नहीं है, कोई लक्ष्य नहीं है। आत्माभिव्यक्ति आदर्शहीनता का दूसरा नाम नहीं है और न वह इन्द्रिय-परायणता का कोई रूप है।

वाजपेयीजी ने इस रूपक में इन समस्याओं को बड़े कौशल से रखा है। पाठक को वे अपने अनुकूल बना लेने की कला में सिद्धहस्त हैं। इसीलिए वे ऐसी बहुत-सी बातें उसे सुना गए हैं जिन्हें वह साधारणतः सुनना पसन्द न करता। आशा है, इस सुन्दर रचना को हिन्दी-ससार अपनायेगा; यह अपनाये जाने की वस्तु है।

हिन्दी-भवन, शान्ति-निकेतन
२६-१०-३६

हजारीप्रसाद द्विवेदी

पात्र

पुरुष

बलराज—इण्टरमीडिएट कालेज में हिन्दी अध्यापक

विलासचन्द्र—कालेज का बी० ए० का छात्र

नवीनचन्द्र—फिल्म-कम्पनी में अभिनेता

सूरे—अन्ध गायक

जगेसर—भिक्षुक (कुष्टी)

स्त्री

कल्पना—बलराज की पत्नी

कामना—एक रिटायर्ड सेशन्स जज की पुत्री और कल्पना की सखी

निद्रा—अभिनेत्री के रूप में कामना

चम्पी—एक लँगड़ी भिखारिन

एक अधेड़ स्त्री—कल्पना की मौसी

अन्य अनुचरगण

प्रथम अङ्क

प्रथम दृश्य

[एक साधारण कमरा, जिसमें उत्तर की ओर एक दरवाज़ा और दो खिड़कियाँ हैं। उसके बाद छज्जा और फिर गली है। दक्षिण की ओर केवल एक खिड़की। पूर्व की ओर जो दरवाज़ा है, वही इस कमरे का प्रवेश-द्वार है। कमरे में एक कैलेण्डर टँगा हुआ है। उसमें एक जापानी सुन्दरी हाथ में पखा लिये हुए है। एक खूँटे में लालटेन टँगी हुई है। उसकी बत्ती कुछ नीचे कर दी गई है, जिससे प्रकाश थोड़ा मन्द है। दो चारपाइयां पड़ी हैं। एक बिछी हुई है, दूसरी का बिस्तर समेटा हुआ है। पूर्व की ओर दरवाज़े के पास दो कुरसियाँ और एक टेबिल है। कुरसियाँ बेत की हैं और पुरानी हैं। उन पर उन्हीं के आकार की छोटी-छोटी गद्दियाँ पड़ी हैं। गद्दियों के ऊपर का कपड़ा कुछ मैला हो रहा है। टेबिल सादी है। उसमें कोई ड्राअर नहीं है। ऊपर स्याही के दाग पड़े हुए हैं। उस पर एक हिन्दी मासिक-पत्रिका और एक अँग्रेज़ी दैनिक-पत्र खुला पड़ा है।

जुलाई मास के अन्तिम दिन हैं। रात के दस बज रहे हैं। जो चारपाई बिछी नहीं है, उसके समेटे हुए बिस्तर पर हथेली के बल सिर टेके हुए

कल्पना लेटी हुई है । उसकी आंखों में नींद नहीं है । कान उसके पति की पद-ध्वनि की प्रतीक्षा में लीन हैं । सदर-दरवाज़ा कब खुलता है, कब स्वामी यहाँ आते हैं, एक-मात्र इसी ओर उसका ध्यान लगा हुआ है ।

यकायक सदर-दरवाज़ा खुलकर बन्द होता है । आवाज़ सुनकर पहले कल्पना उठ बैठती है । फिर कुछ सोचकर उसी प्रकार लेट रहती है ।

बलराज प्रवेश करता है ।]

बलराज—(कोट-क़मीज़ उतारकर एक खूंटे पर टाँगता हुआ) **सो रही हो कल्पना ? उठो, देखो, तुम्हारी प्रिय वस्तु ले आया हूँ ।** (लालटेन की बत्ती कुछ और ऊपर उठा देता है ।)

कल्पना—(एक शीतल निःश्वास लेकर) **मैं कुछ नहीं खाऊँगी ।** (ज़रा-सी इधर-उधर होती है ।)

बलराज—(कल्पना के निकट जाकर, उसके कन्धे को ज़रा-सा हिलाते हुए) **उठो, तुम्हें मेरी क़सम । उठो ! देखो, कपूरक़न्द लाया हूँ ।**

कल्पना—**मुझे चुपचाप लेटी रहने दो । अपना क़न्द-वन्द अपने पास रक्खो । मुझे तंग मत करो ।**

बलराज—(कुछ उत्तेजित होकर) **तो मैं फेंके देता हूँ ।**

कल्पना—(उठकर एक बार बलराज के हाथ के दोने को देखती हुई) **मैं कितनी बार कह चुकी हूँ, मुझे मिठाइयाँ न चाहिएँ । मैं मिठाई नहीं पसन्द करती । मुझे मेरे घर भेज दो । मैं यहाँ रह नहीं सकती ।**

बलराज—ग़लत बात है। तुम्हारा घर यही है। तुम यहीं रहने के लिए आई हो। तुम्हें यहीं रहना शोभा देता है। मैं जानता हूँ, तुम्हें यहाँ कष्ट है। लेकिन कष्ट तो कल्पना, जीवन से लगे हैं। आँखें खोलकर देखो। (दोने को टेबिल पर रख देता है) देखो, खिड़की के उस पार सिर ले जाकर। वे जो बादल-परियाँ उड़ी-उड़ी फिरती हैं, जानती हो किसानों का कितना खून सुखा रही हैं ? घोर दुर्भिक्ष का समय है। पानी बहुत कम बरसा है। गाँवों में त्राहि-त्राहि मची हुई है। अपने काल्पनिक कष्टों से उन बेचारों के कष्टों की ज़रा तुलना करके देखो, जिनके बच्चे भूखों मर रहे हैं, आमों की गुठलियाँ चाट-चाटकर जिन्होंने ये दिन व्यतीत किये हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि तुमको यहाँ इसी तरह कष्ट में रहना पड़ेगा। वह दिन जल्दी ही आयगा, जब तुम्हारी सारी आशाएँ पूरी होंगी।

कल्पना—(निःश्वास लेती है। फिर थोड़ी देर ठहरकर) कभी नहीं आयगा। कभी आ ही नहीं सकता।

बलराज—अच्छा, मान लो नहीं आ सकता। तो भी मैं यह कहना चाहता हूँ कि भगवान जो कुछ देता जाय, हमें उस पर सन्तोष करना चाहिए। आज रणजीतपुरवा में मैंने देखा, एक मज़दूरिन अपने बच्चे को बेझर की रोटी नमक के टोरे के साथ खिला रही थी। बच्चा खेल-खेलकर खाता हुआ मुझे बड़ा प्यारा मालूम हुआ। मैंने देखा, उसकी माँ के मन में कोई असन्तोष नहीं है, अशान्ति नहीं है।........सन्तोष

के बिना हम कभी सुखी नहीं हो सकते। (कल्पना के भाव-परिवर्तन को देखकर कुछ प्रसन्न होकर) उठो, इधर आ जाओ।

कल्पना— (उठकर, टेबिल के पास जाकर कुरसी पर बैठती हुई) आज बड़ी देर कर दी तुमने। कुछ ठीक है, मैं कितनी देर से प्रतीक्षा कर रही हूँ ?

(दोने से मिठाई उठाकर मुंह में रखती है ।)

बलराज—फूलबाग़ चला गया था। मित्रों के साथ वार्तालाप करने में अधिक समय हो जाने का ज्ञान ही न रहा। (मिठाई खाने लगता है ।)

कल्पना—(मुसकराकर) तुम्हें अपना ज्ञान भी नहीं रहता ?

बलराज—अगर ऐसा हो सकता कल्पना, अगर मैं सचमुच इच्छानुसार आत्मविस्मृत हो सकता......

कल्पना—तो मुझे रानी बना देते। (मुसकराती है ।)

बलराज—रानी तो तुम मेरी हो ही।

कल्पना—बाँदी भी नहीं हूँ। (फिर गम्भीर हो जाती है ।)

बलराज—ग़लत बात है। प्रत्येक नारी अपने पति की रानी है—हृदय की रानी, जीवन की आशा, कामना की पूर्ति। सम्पूर्ण रूप से तृप्ति है वह—उसके चिर-तृषित मन-प्राण की।

कल्पना—कविता रहने दो। (उठ खड़ी होती है। फिर इधर-उधर देखकर) अरे ! पानी रखना तो मैं भूल ही गई ! (नीचे चली जाती है ।)

बलराज—कहती क्या हो! ऐसी सुन्दर कल्पना को प्राप्त कर कविता रहने दूँ ? असम्भव ! (कमरे में टहलने लगता है। कैलेण्डर पर दृष्टि जाती है। तारीख़ नहीं बदली गई है। पहले पच्चीस, फिर अगले दिन की छब्बीस तारीख़ कर देता है।)

(कल्पना का प्रवेश)

कल्पना—(झट से शीशे के रंगीन गिलास में पानी देती हुई) देखते क्या हो ?

बलराज—रंगीनी देखता हूँ। (मुसकराता है) लेकिन तुम्हारा रंग इससे भी सुहावना है। (पानी पीता है।)

कल्पना—(बलराज का गिलास हाथ में लेकर) सदा इसी तरह मुझे ठग लेते हो।

बलराज—(बिछी चारपाई पर जाकर) ग़लत बात है। कल्पना कभी ठगी नहीं जाती। बल्कि वही सदा दूसरों को भुलावे में डालती रहती है। ठगिनी है वह। उसके पर होते हैं। वह उड़ना जानती है। उड़कर वह हमारी दृष्टि से परे जा पहुँचती है। हम ताकते रह जाते हैं। प्रतीक्षा करते-करते जब आँखें थक जाती हैं, पलक झपक जाते हैं, तो वह उन्हीं पलकों पर आकर नाचने लगती है। हमारे रोम-रोम में एक सिहरन-सी उत्पन्न हो जाती है। हम उठ बैठते हैं और कहने लगते हैं—ओह रानी तुम हो! तो वह मुँह लटकाकर उत्तर देने लगती है—बाँदी भी नहीं हूँ! (मुसकराता है।)

कल्पना—(अपनी चारपाई का बिस्तरा बिछा चुकती है। फिर उस पर लेटने के बाद, तकिये को दोहरा करके सिर के नीचे रखती हुई, हँसकर) उसके बाद ?

बलराज—(उत्तरंग होकर) उसके बाद वह फिर चिड़ियों की भाँति फुर्र-सी उड़ने लगती है। (लेट जाता है।)

कल्पना—तब ?

बलराज—तब हम उसकी ओर इक-टक देखते रह जाते हैं।

कल्पना—तुम्हारे पास बस यही लच्छेदार बातें हैं, और कुछ नहीं। लेकिन मैं कोरी बातें नहीं चाहती। तुमने कहा था, इस साल गरमियों में इलैक्ट्रिक फ़िटिंग करायेंगे, फ़ैन लेंगे। किन्तु मुझे तो इसी तरह यहाँ, इस ऊमस में, घुल-घुलकर मरना बदा है।

बलराज—इस समय तो हवा बड़ी ठंढी आ रही है। कल्पना, शायद पानी बरसे। हाँ, आज दिन-भर ज़रूर बड़ी गरमी रही है।···क्या बताऊँ, सोचा था कापियों की जँचाई के रुपये जल्दी आ जायँगे, किन्तु अभी तक आये नहीं।

(चिन्ता से अभिभूत हो उठता है।)

कल्पना—(करवट बदलती हुई) तुमसे कुछ हो नहीं सकता। मैं पूछती हूँ, तुम मुझे ले ही क्यों आये ?

बलराज—अब सो जाओ कल्पना! ग्यारह बज रहे हैं। (पलक झपकने लगते हैं।)

कल्पना—मुझे जल्दी नींद नहीं आती। (नेपथ्य से आते हुए गायन की कड़ी को सुनकर खिड़की पर जा बैठती है और गुन-गुनाती है—)

गायन

मोरे अँगना में छायी बदरिया।

मैं सुख-सपनों की प्यासी,
मोरे जियरा में छायी उदासी।
मोरी सखियाँ बन गईं रनियाँ,
चन्दा को खिलावें कनियाँ।
मैं अँसुवन जड़ी चदरिया,
मोरे अँगना में छायी बदरिया॥

(चारपाई पर आकर करवटें बदलती है।)

(पट-परिवर्तन)

द्वितीय दृश्य

[वही कमरा है । साढ़े चार बजे हैं । बलराज चारपाई पर बैठा हुआ कपड़े उतार रहा है । कल्पना हाथ में पानी का लोटा लिये खड़ी है । टेबिल पर तश्तरी में गरम समोसे और पानी से भरा हुआ गिलास है । एक चारपाई खड़ी रक्खी है । फ़र्श पर एक शीतल-पाटी बिछी है ।]

बलराज—(छज्जे पर हाथ-मुह धोकर टेबिल की ओर जाते हुए) आज प्रिंसिपल साहब से बड़ी झक-झक हो गई । (समोसा तोड़कर मुंह में रखता है ।)

कल्पना—(आश्चर्य से) क्यों ?

बलराज—क्यों क्या ? मैं यह पसन्द नहीं करता कि जितना काम मैं सुविधापूर्वक, सुन्दरता के साथ, कर सकूँ, उससे भी कहीं अधिक मेरे गले मढ़ दिया जाय और मैं उसे चुपचाप करता रहूँ ।

कल्पना—तुम तो कहते थे कि प्रिंसिपल साहब मुझे बहुत मानते हैं, मेरा बड़ा आदर करते हैं । (शीतल-पाटी पर बैठ जाती है ।)

बलराज—अजीब बात करती हो! तुमसे मैं यह थोड़े ही कह रहा हूँ कि आज उन्होंने मेरे मुँह पर चाँटा रसीद कर दिया। मेरा मतलब तो यह है कि वे अपनी बला मेरे ऊपर डालना चाहते थे। उन्होंने बहुत कहा, किन्तु मैंने स्वीकार नहीं किया।

कल्पना—तुम्हीं पहले कहते थे कि आदर करते हैं; फिर कहते हो झक-झक हो गई। मैं कैसे जान सकती हूँ कि तुम्हारी किस बात का क्या अर्थ है?

बलराज—अच्छा, तो तुम यह कहना चाहती हो कि प्रिंसिपल साहब अगर मेरा आदर करते हैं, तो वे मुझे आवश्यकतानुसार कोई उत्तरदायित्व का कार्य नहीं दे सकते। तुम्हारा मतलब यह है कि श्रद्धा अन्धी होती है। (पानी पीकर गिलास टेबिल के नीचे रख देता और फिर चारपाई पर जाकर लुढ़क रहता है।)

कल्पना—(तश्तरी और गिलास उठाकर नीचे जाती हुई) मैं तुमसे बहस नहीं करना चाहती।

(थोड़ी देर बाद कल्पना का प्रवेश)

बलराज—ज़रा मेरे ऊपर पंखा तो झल दो। एक झपकी ले लूँ। नहीं रहने दो, तुमको कष्ट होगा। (सदर दरवाज़े पर कुण्डी खटखटाने की आवाज़ आती है।) देखो तो कौन है कल्पना!

[थोड़ी देर बाद एक युवक कल्पना के आगे आता हुआ दीख पड़ता है। सिर से पैर तक अँगरेज़ी फ़ैशन में है—चमकता हुआ ब्राउन शू; रेशमी

रूमाल का ज़रा सा कोना जेब के ऊपर निकला हुआ ; सोने की घड़ी बाँये हाथ में। सिर पर से सोला हैट उतारकर बग़ल में दबाये हुए, दोनों हाथ जोड़कर दूर से ही प्रणाम करता आता है।]

कल्पना—(निकट आने पर) **आओ, इधर कुरसी खिसकाकर बैठ जाओ।**

विलासचन्द्र—(कल्पना कुरसी उठाने लगती है। उसे मना करते हुए) **धन्यवाद। आपको कष्ट उठाने की ज़रूरत नहीं। मैं किस लिए हूँ ?** (निकट आने पर, कल्पना के केश-गुच्छ से भीनी-भीनी मीठी खुशबू लहराने का आभास पाकर, फिर उसके कानों में डोलते हुए झूमर देखकर पराजित-सा निराश होने लगता है।)

कल्पना—(प्रसन्नता से) **हर्ज ही क्या है ?**

विलासचन्द्र—**वाह !** (कृतज्ञता से अभिभूत हो उठता है।)

बलराज—**कहो, कब आना हुआ ?**

विलासचन्द्र—**कई दिन हो गए।**

बलराज—**इस साल तो तुम्हारा फ़ाइनल है न ?**

विलासचन्द्र—**हाँ, फ़ाइनल है।**

बलराज—**और कहो, मेरे योग्य कोई काम तो नहीं है ?**

विलासचन्द्र—**सब आपकी कृपा चाहिए। दोस्तों के साथ इधर आ निकला। सोचा, आपके दर्शन करता चलूँ।**

बलराज—**तुम्हारा ही घर है। खुशी से आओ-जाओ। कल्पना, इनको जलपान के लिए कुछ···** (कल्पना के उठने पर) **न हो, चाय ही बना लेना।**

विलासचन्द्र—क्षमा करें, मैं इस वक्त कुछ खाना नहीं चाहता। (कल्पना का प्रस्थान)

बलराज—संसार में खाना-पीना और आनन्दित रहना ही एक सार है—एक महात्मा का यह वचन है। (मुसकराने लगता है) आपको तो यह सिद्धान्त बहुत प्रिय होना चाहिए।

विलासचन्द्र—(पहले सकोच से नीचा सिर करके, फिर उठाकर मुसकराते हुए) और आप...?

बलराज—एक मैं क्या, प्रत्येक व्यक्ति सच पूछो तो यही आदर्श रखता है। मैंने कंजूस लोगों के जीवन का भी अध्ययन किया है। जानता हूँ, वे खा-पी नहीं सकते। किन्तु रुपये का संचय आखिर वे करते तो इसी उद्देश्य से हैं कि वह उनकी संतान के काम आये। वे उसे संतान को सदा सुखी रखने के लिए छोड़ जाते हैं। आप पूछेंगे, पर जिनके संतान नहीं होती, वे ऐसा क्यों करते हैं। बात यह है कि वे समझते हैं कि हम बहुत दिन जियेंगे। उस समय जब हमारी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जायँगी, हम किसी काम के न रहेंगे, तब हमारी वह संचित पूँजी ही काम आयेगी।

विलासचन्द्र—लेकिन ऐसे लोग ही अपनी पूँजी सदा दूसरों के लिए छोड़ जाते हैं।

बलराज—और जो उसे खूब रस ले-लेकर उड़ाते हैं।

विलासचन्द्र—जीवन में रस क्या वस्तु है, आपने कभी सोचा है, मास्टर साहब ?

बलराज—सोचा क्यों नहीं है, रोज ही सोचता हूँ। कल्पना से नित्य इस पर बहस होती रहती है। जीवन का रस मैं संतोष में देखता हूँ। आज की सभ्यता हमें गलत रास्ते पर ले जा रही है। प्रत्येक व्यक्ति को यह शिकायत है कि वह बहुत दुःखी है। वह सोचता है वह हीन है, उसकी आशाएँ पूरी नहीं हुईं। होंगी या नहीं, कौन जाने! रात-दिन वह हाथ-पैर मारता है। सफलता भी प्राप्त करता है, तो भी उसका रोना बन्द नहीं होता। वह आकाश के चन्द्र से खेलना चाहता है। चाहता है कि उसे अपने हाथ का खिलौना बना लूँ। उसका आदर्श स्थिर नहीं रहता। वह ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ करता है, जो उसकी सामर्थ्य और शक्ति, प्रगति और सीमा से सर्वथा परे होती हैं। आदर्श उसके उच्चातिउच्च होते जाते हैं—इतने कि वह उन्हें जीवन में कभी छू नहीं पाता, देख नहीं पाता और प्राप्त नहीं कर सकता।

विलासचन्द्र—(मुसकराकर) आदर्श तो सदा ऐसा ऊँचा रखना ही चाहिए। वह भी क्या आदर्श, जो पूरा हो जाय?

बलराज—(अविराम गति से) किंतु जीवन उसका अशान्ति, घोर अशान्ति में बीतता है। कष्ट न होते हुए भी वह कष्ट का अनुभव करता है और सदा कल्पित दुःखों के पाश में आबद्ध रहता है। आत्मा उसकी सदा सिसकियाँ भरती रहती है। प्राप्य शक्तियों और सुविधाओं का वह उपयोग नहीं करता। उपलब्ध के प्रति उसकी विरक्ति रहती है। सुख और आनन्द,

हास और क्रीड़ा, स्पंदन और दोलन, हिलौर और हलचल वह अपने में न देखकर दूसरों में देखता है। जो वस्तु उसकी है, उससे जीवन के आंगन की शोभा, आशा-मन्दिर की प्रतिमा, गहन कान्तार की सरिता, उद्यान की हरियाली और कर्मक्षेत्र की मधुरिमा, उसे वह हीन देखता है, तुच्छता का उसमें अनुभव करता है। सोचता है कि वह कुछ भी नहीं है।

विलासचन्द्र—खूब।

बलराज—(अविराम गति से) और जो चीज उसकी नहीं है, हो भी नहीं सकती, उसकी प्राप्ति में वह जीवन की पूर्ण सफलता देखता है। फलतः निःश्वास और क्रन्दन की सृष्टि होती है और जीवन का समस्त आनन्द धूल में जा मिलता है। आज संसार में चारों ओर से जो आँधियाँ आ रही हैं, मैं उनके निकट-भविष्य में महानाश की एक धधकती ज्वाला देखता हूँ। हममें मानवता का सारा उल्लास आज जैसे लुप्त हो गया है। मैं नहीं मानता कि यह हमारी उन्नति है। मैं सोच ही नहीं सकता कि यह स्थिति हमें विकास की ओर ले जाने वाली है।

विलासचन्द्र—किन्तु यदि मनुष्य में असन्तोष न हो तो वह उन्नति कैसे करे, आगे बढ़ने का भाव ही कैसे उसमें आये?

बलराज—ओह तुम दूसरी ओर जा रहे हो मिस्टर विलास। असंतोष की भी एक मर्यादा होती है। तुम जानते

हो, प्रत्येक व्यक्ति राजा या कुबेर नहीं बन सकता, डिक्टेटर या नेता नहीं बन सकता, विश्वकवि या कलाकार नहीं बन सकता। सौभाग्य और प्रतिभा का यह मिलन तो कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही होता है।

विलासचन्द्र—किन्तु कोई यह क्यों मान ले कि मैं यह चीज़ नहीं पा सकता। व्यक्ति का अधिकार भी तो कोई वस्तु है। प्रयत्न भी तो कोई चीज़ है।

बलराज—ग़लत बात है। सभी व्यक्तियों के अधिकारों की समानता का यह आदर्श एक ऐसे आधार पर स्थिर है जिसमें नींव नहीं है, स्थिर रखने की रोक नहीं है। वायु का एक साधारण झोंका अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों का एक ही कम्पन उसे धराशायी करने के लिए पर्याप्त है। व्यक्ति के अधिकारों का गुरुत्त्व उसकी पद-मर्यादा के अनुसार मानना होगा। प्रत्येक व्यक्ति गांधी या जवाहरलाल नहीं बन सकता। —कि बन सकता है ?

विलासचन्द्र—(लज्जा के हास में) नहीं बन सकता।

बलराज—तो यह निश्चित है कि व्यक्तित्व की गुरुता उसकी योग्यता के स्टैण्डर्ड के अनुसार होनी चाहिए, तब हमें यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार समान नहीं हो सकते। समाज में सदा एक ऐसा वर्ग रहेगा, जो विशिष्ट माना जायगा। उसकी प्रतिभा और योग्यता, साधना और त्याग-भावना, लोक-प्रियता और महानता, जनता के हित और

विकास के लिए, छाया का वितान होगी। हमें उसे श्रेष्ठ मानना ही होगा। लेकिन हमारे यहां तो थोड़ा पढ़-लिखकर, अपनी सीमित क्षमता और साधना के गान गा-गाकर आज सभी नेता बन गए हैं। अनियन्त्रित महत्त्वाकांक्षाओं का यह ताण्डव नृत्य आज हमारी सामूहिक शक्ति और सफलता की छाती पर कितना शोभायमान हो रहा है, आप देखते ही हैं। इसीलिए जहां एक ओर मैं मर्यादित असंतोष को हितकर मानता हूँ, वहां दूसरी ओर अमर्यादित असन्तोष को मैं नाशमूलक भी समझता हूँ।

(आगे-आगे कल्पना तश्तरी में नमकीन और पीछे से शरबती (नौकरानी) चाय की ट्रे लाती हुई दीख पड़ती है।)

बलराज—(उठकर कोट पहनते हुए) अच्छा मिस्टर विलासचन्द्र, मैं तो अब ट्यूशन पर जाऊंगा। तुम यहाँ प्रेमपूर्वक चाय-पान करो।

कल्पना—(तश्तरी मेज़ पर रखकर) लेकिन तुम चाय तो पिये जाओ। मैं कितनी मेहनत से बना लाई हूँ। (अनुरोध के साथ मुसकराती है।)

बलराज—अच्छा तो आ जाओ झट से। नहीं तो फिर मुझे अधिक देर हो जायगी।

(बलराज और विलासचन्द्र कुर्सियों पर बैठ जाते हैं।)

विलासचन्द्र—और आप ? (कल्पना की ओर संकेत करता है।)

कल्पना—मैं फिर पी लूँगी।

बलराज—अच्छा, कप मैं लिये लेता हूँ। तुम प्लेट में ही पी लो।

(कल्पना अन्यमनस्क भाव से चुप रहकर इसे स्वीकार कर लेती है। बार-बार अपने अभावों का ही उसे ध्यान आता है।)

बलराज—(कप ओठों से लगाकर) बस, चाय का यही रंग मुझे अधिक पसन्द आता है।

विलासचन्द्र—चाय वास्तव में बड़ी स्वादिष्ट बनी है।

बलराज—(थोड़ी-सी चाय सिप करने के बाद मुसकराता हुआ) पहले रंग और फिर स्वाद का ही सारा खेल है।

कल्पना—थोड़ा-सा शकरपारा भी न खा लो ?

बलराज—आखिर तुम चाहती क्या हो कल्पना ? अभी-अभी समोसे खा चुका हूँ।

कल्पना—तो क्या हुआ ? दो-चार मुँह में डाल ही लोगे, तो अजीर्ण न हो जायगा। (प्लेट से चाय सिप करती है।)

बलराज—सुनते हो विलास बाबू ? मैं चाहे जितना खाता चला जाऊँ, पर इसको कभी सन्तोष न होगा।

कल्पना—क्यों हो सन्तोष ? सन्तोष हो जाने पर फिर जीवन में रह क्या जाता है ?

विलासचन्द्र—(कल्पना की ओर देखकर) किन्तु मास्टर साहब तो इससे सहमत नहीं हैं।

कल्पना—उनकी बात दूसरी है। वे महात्मा ठहरे। (मुसकराती है।)

बलराज—(चाय समाप्त करके) अच्छा, मैं तो अब चलूँगा। (दरवाज़े की ओर बढ़ता है।)

विलासचन्द्र—दो मिनट ठहर जाइये। मैं भी चलता हूँ। (जल्दी से कप की चाय समाप्त करके शकरपारा खाने लगता है।)

बलराज—नहीं विलासचन्द्र, तुम बैठो प्रेम के साथ। (विलासचन्द्र की ओर देखता है) कुछ अपनी कहो, कुछ इसकी सुनो। तीन मास बाद आये हो। मामाजी के यहाँ का हाल-चाल तो कुछ इसे बतलाओ। (कल्पना की ओर देखता है।)

कल्पना—(सिर नीचा किये गम्भीर दीख पड़ती है) नहाने का साबुन चुक गया है। याद रहेगा ?

बलराज—लेता आऊँगा। (कमरे से बाहर हो जाता है।)

(पट-परिवर्तन)

तृतीय दृश्य

[आँगन से लगी दालान। दो बेत की पुरानी कुरसियां पड़ी हुई हैं। बीच में बांस की खपच्चियों की छोटी टेबिल, जिस पर एक काव्य-ग्रन्थ पड़ा हुआ है। एक ओर एक चारपाई है, जिस पर समेटा हुआ बिस्तरा सिरहाने रखा है। चारपाई के नीचे पनडब्बा है। आंगन के कोने पर पाइप है, जिसके नीचे खाली बाल्टी रखी है। पाइप खुला हुआ है, किन्तु इस समय पानी नहीं आ रहा है। तभी वह जोर से घर्राटे के साथ आवाज कर रहा है।

प्रातःकाल के सात बजे हैं। एक कुरसी पर विलासचन्द्र बैठा हुआ सिगरेट पी रहा है। कल्पना भीतर की कोठरी में काम से गई हुई है।]

विलासचन्द्र—(सिगरेट की राख गिराकर) **न मिल रही हो तो जाने दो। रास्ते में कहीं भी किसी दर्जी की दूकान पर टँकवा लूँगा।**

(कल्पना का प्रवेश)

कल्पना—**मिलेगी कैसे नहीं?** (कमीज के कफ का बटन टाँकने के लिए उसके निकट झुककर खड़ी हो जाती है।)

विलासचन्द्र—(महीन साड़ी के भीतर से उसकी वेणी की कुन्तल राशि, लटों की चक्करदार लपेट और कमर के नीचे तक आया

हुआ उसका फुंदना देखकर) **कल संयोग से अपने लिए कुछ कपड़ा खरीदते वक्त मैंने एक साड़ी देखी, वह मुझे बहुत पसन्द आई।**

कल्पना—(बटन टाँककर सुई-डोरा एक ओर ताक़ में रखकर दूसरी कुरसी पर बैठती हुई, उत्सुकता के साथ) **कैसी थी ?**

विलासचन्द्र—(टेबिल पर रखकर) **देखो** (फिर सिगरेट का कश लेता है ।)

कल्पना—(अधीर होकर पैकेट खोलती है । फिर मोरों की पंक्ति की सुन्दर किनारी और उसके मुलायम रेशमी कपड़े जाँचने की चेष्टा में, ऊपरी पर्त के नीचे अँगुलियाँ ले जाकर, प्रतिहत भाव से) **अच्छी तो है।** (निःश्वास लेती है।)

विलासचन्द्र—**आपको पसन्द आई ?** (सिगरेट की राख गिराता है ।)

कल्पना—(अस्त-व्यस्त होकर) **अच्छी चीज़ किसे पसन्द नहीं आती ?**

विलासचन्द्र—**तो रख लीजिये। आपकी नज़र है।**

कल्पना—(थोड़ी देर चिन्ता में लीन रहकर फिर कुछ उत्तेजित होकर) **आप मेरा अपमान कर रहे हैं।**

विलासचन्द्र—(अप्रतिभ होकर) **किस तरह ?**

कल्पना—(ओंठ काँपते हैं। भृकुटियाँ तन जाती हैं। मुख पर ज्वलन्त लालिमा फैल जाती है।) **किस भाव से आप यह साड़ी मुझे भेंट कर रहे हैं ?**

विलासचन्द्र—(कुछ विचलित होकर कुरसी से उठकर टहलता है। फिर सिगरेट का कश लेकर धुँआँ उगलता हुआ) भाई की भेंट की तरह।

कल्पना—लेकिन....

विलासचन्द्र—तुम सोचती हो, मैं तुम्हारा वैसा नज़दीकी भाई नहीं हूँ।

कल्पना--मिस्टर विलास....

विलासचन्द्र—कल्पना....

कल्पना—(टेबिल पर दायें हाथ के बल सिर रखकर फिर उठा लेती है।) मैं बहुत ग़रीब हूँ।

विलासचन्द्र—लेकिन ग़रीब होना तो कोई गुनाह नहीं है। (पास आता है।)

कल्पना—शायद।

विलासचन्द्र—शायद नहीं निश्चयपूर्वक।

कल्पना—(सिर ऊपर उठाकर) मन की बहुतेरी संकुचित किन्तु प्रकृत भावनाएँ ग़रीबी के ही कारण ऊपर आकर साकार होती और जीवन को पतन की ओर ले जाने का कारण बनती हैं।

विलासचन्द्र—(पुनः कुरसी पर बैठ जाता है) जीवन को पतन की ओर! (विस्मय से) आप कहती क्या हैं ?

कल्पना—मनुष्य में तृष्णा का अन्त नहीं है। और ग़रीबी

में भड़कने वाली तृष्णा की ज्वालां क्या चीज़ होती है, आप नहीं जानते, मिस्टर विलास !

विलासचन्द्र—शायद (सिगरेट का अवशिष्ट भाग फ़र्श पर डालकर दबाता है ।)

कल्पना—ग़रीबी मनुष्य की पैशाचिक भूख को कभी शान्त नहीं होने देती।

विलासचन्द्र—संसार में जो कुछ भी आनन्द है उसकी सृष्टि ग़रीबों ने ही की है। यह ग़रीबों के ही खून और पसीने का फल है कि हम महलों में रहते और फूलों की शैया पर सोते हैं। जीवन के विकास के लिए ग़रीबी भगवान का एक वरदान है।

कल्पना—(विस्मय से विलासचन्द्र के मुख की ओर ताकती है) तुम सच कह रहे हो ?

विलासचन्द्र—संसार के सारे अमीर मिलकर जन-समाज में सारा धन बराबर-बराबर बाँट दें, तो भी ग़रीबी दूर नहीं हो सकती। ग़रीब तो लोग रहेंगे ही। हृदय की महानता और साधनामूलक पावन वृत्तियाँ वे कहां ले जायँगे ? मनुष्य की त्याग-भावना कभी मर नहीं सकती।

कल्पना—(निःश्वास लेती है) विलास भाई !

विलासचन्द्र—कहो (इकटक कल्पना के नेत्रों की ओर देखता है ।)

कल्पना—मैं उनको अपना ईश्वर मानती हूँ।

विलासचन्द्र—नारी के लिए यह अभिमान की बात है।

कल्पना—लेकिन मैं पागल हो रही हूँ, विलास! मैं नहीं जानती, आज क्यों मेरे भीतर एक अजीब तरह की कसक हो रही है!

(विलासचन्द्र थोड़ी देर तक चुप रहता है। फिर इधर-उधर घूमता हुआ दूसरी सिगरेट सुलगाता है।)

विलासचन्द्र—मेरे आने से आपको कुछ कष्ट होता है?

कल्पना—(कुछ सोचकर) होता है।

विलासचन्द्र—(विवर्ण होकर) तो मैं अब नहीं आया करूँगा।

कल्पना—(उद्वेग से) कैसे कहूँ....

विलासचन्द्र—बस, यही ठीक है, कल्पना। आज से मैं फिर कभी नहीं आऊँगा।

कल्पना—लेकिन मैं कष्ट सहन कर लूँगी, हँसी-खुशी के साथ। कुछ ऐसे भी कष्ट होते हैं विलास भाई...

विलासचन्द्र—जिनके सहन करने में आनन्द मिलता है, सुख मिलता है। मनुष्य ऐसे कष्टों को निमंत्रण तक देता है।

कल्पना—विलासचन्द्र....

विलासचन्द्र—मैं अब चलूँगा।

कल्पना—तो अब कब आओगे?

विलासचन्द्र—अब यह सम्भव नहीं है। बात यह है कि....(सिगरेट का कश लेकर धुआँ उगलता है।)

कल्पना—मैंने जो कुछ कहा, उसे भूल जाओ। अपनी

यह साड़ी भी लेते जाओ। शायद तुम इसे पुष्पा को देने के लिए लाये होगे। आजकल वह है कहाँ ?

विलासचन्द्र—लखनऊ में। (चलने लगता है) नमस्ते। (साड़ी टबिल पर पड़ी रह जाती है। कल्पना एक बार विलास को जाता हुआ देखकर साड़ी की तह खोलती है। फिर कमर से पैर तक फैलाकर उसे देखती है। फिर निःश्वास लेती हुई दरवाज़े के पास जाकर, किवाड़ों के बीच से, विलास को जाता हुआ देखकर) सुनते जाओ विलास एक बात।

(परन्तु विलास तब तक अदृश्य हो जाता है। तब लौट आकर कल्पना कविता-पुस्तक का एक पृष्ठ उलट देती और गुन-गुनाकर निम्न पंक्तियाँ पढ़ती है))

इन प्यासे नयनों की भाषा,
उस दिन जब मैं पहचान सका।
बस, तब इस दुखिया जीवन की,
कुछ सार्थकता अनुमान सका॥

(पट-परिवर्तन)

चतुर्थ दृश्य

[सड़क के किनारे खड़ी एक कोठी, जिसके नीचे पाइप है। ऊपर ऊँचे चबूतरे पर कुछ कँगले बैठे हुए हैं। एक कुष्टरोग से पीड़ित है--उमर पैंतीस वर्ष; हाथों की अँगुलियाँ गल-गलकर समाप्त हो गई हैं; पैरों में घाव हैं; चिथड़े लपेटे हुए हैं; मक्खियाँ भनभना रही हैं। दूसरा नेत्रों से हीन है—उमर चालीस पार कर चुकी है; प्रायः गुनगुनाता रहता है। तीसरी एक स्त्री है—उसका पैर टूटा है, आँख में फूली। अभी जवान है।

सायंकाल का समय है। सड़क पर बिजली की बत्तियाँ जल गई हैं।]

स्त्री—सत्तू खाओगे सूरे। लेकिन भई, शक्कर के नहीं हैं; निमक के हैं। एक लड्डू ले लो। तबियत बहल जायगी। चने से क्या पेट भरा होगा!

सूरे—(मुसकराने से दाँत और मसूढ़े झलकते हैं) लेकिन तुमको कम न हो जायँगे! मैं यह नहीं चाहता कि मेरे कारण ... क्यों जगेसर?

जगेसर—सो तो है ही। अपने राम का भी यही विचार रहता है। वैसे एक लडुआ मैं भी ले लेता, लेकिन मुझे आज

दाल-भात पेट-भर खाने को सड़क पर ही पड़ा मिल गया था। तुमने तो देखा था चम्पी।

(चम्पी सूरे को सत्तुओं का लोंदा देती है।)

चम्पी—हाँ, देखा था। देखा क्या था, बल्कि मैं पास ही खड़ी भी रही थी। डर था कि कोई साँड या गाय न आ जाय और जगेसर के मुँह में अपना भी थूथुन भिड़ा दे !

सूरे—सुनते हो जगेसर ? (हँसता है) यह चम्पी चुपके से, धीरे से, ऐसी बात कह देती है कि रस जैसे उमड़ पड़ता है। (सत्तू खाता है।)

जगेसर—सो तो है ही। अपने राम भी पा जाते हैं कभी-कभी उस रस की एक-आध बूँद। अरे भई, सब कुछ खोये बैठी है। अब इतना भी न हो ? इस्तिरी जो है।

(चम्पी सत्तू का अन्तिम कौर निगलकर नीचे जाकर पाइप में पानी पीती और फिर ऊपर आ जाती है।)

चम्पी—(ओढ़नी में हाथ-मुह पोंछकर) रस की बात मत चलाओ सूरे। कलेजे में से एक हूक उठती है। यह पैर तो मेरा तब टूटा, जब उन्होंने मुझे छज्जे पर से नीचे फेंक दिया था। लेकिन उससे पहले, जब मैं आयी-ही-आयी थी, मेरे भी कुछ दिन सुख से बीते थे। मेरी बातें सुनकर वे गिगिलमान हो जाते थे। हँसते-हँसते उनके पेट में बल पड़ जाते थे। (कण्ठ भर आता है। आँखें चमकने लगती हैं।)

जगेसर—हँसने से क्या होता है। आदमी एकदम

जानवर था···कोई बाल-बच्चा तो हुआ नहीं, सायद ?

चम्पी—(आँखों में आँसू भरकर) हुआ था जगेसर। एक लड़का हुआ था। गरमी के दिनों मेरे चेचक निकली थी। उससे एक आँख चली गई। पीछे लड़का भी चेचक से चल बसा।

सूरे—तुझे छज्जे से नीचे क्यों डाल दिया था ?

चम्पी—वे कहा करते थे, बच्चे को टीका लगवायेंगे। मैंने ही नहीं लगवाने दिया था। ज़िद की थी। मैं सोचती थी, कहीं वह बीमार न पड़ जाय। पीछे जब वह नहीं रहा तो उन्होंने कहना शुरू किया, तू हत्यारिन है। तूने ही बच्चे की जान ली है। तभी एक दिन उनके सिर पर सैतान सवार हो गया और उन्होंने मुझे छज्जे पर से नीचे डाल दिया। मैं बेहोस हो गई थी। होस आने पर उनका कहीं पता नहीं चला।

सूरे—आदमी बुरा नहीं था।

जगेसर—सो तो है ही। अपने राम भी यही सोच-बिचार कर रहे थे।

(थोड़ी देर को सन्नाटा छा जाता है। फिर सड़क पर एक मोटर-साइकिल ज़ोर से फट्-फट् करती हुई आती है।)

सूरे—कोई फटफटिया लिये आ रहा है।

चम्पी—आवाज कैसी चनाजोरगरम है !

सूरे—सुना है, जाती बहुत तेज है। रेल से भी आगे निकल जाती है।

चम्पी—रेल से तेज भला क्या जाती होगी ? उसकी बात दूसरी है।

सूरे—नहीं चम्पी। मैं झूठ नहीं बोलता।

चम्पी—बिसवास नहीं होता।

जगेसर—सारा खेल बिसवास का ही है चम्पी। बिसवास न हो तो कुछ नहीं हो सकता। सत्तू तो अब सब-के-सब खा चुकी होगी ?

चम्पी—हाँ, खा तो चुकी। क्यों ? तुमने पहले क्यों नहीं कहा ?

जगेसर—कहा तो नहीं था, मगर.........

सूरे—कुछ छुधा जगी होगी।

जगेसर—हाँ भई। जगी भी तो साली पीछे से। मौके पर सोती रही।

(चम्पी हँसती है।)

सूरे—चम्पी हँस रही है। इसके हँसने में भी जी को बड़ा सुख मिलता है जगेसर। आँखों का दुख भूल जाता हूँ। उसका एक-एक सुर मेरे भीतर बिलकुल हृदय में जा पहुँचता है। सरीर जैसे सुन्न रह जाता है।...क्यों जगेसर, लोग कहते हैं, संसार दुख का सागर है। लेकिन हमें तो कुछ और दिखाई देता है। चम्पी, तुमको अभी से नींद तो नहीं आ रही है ?

चम्पी—नहीं दादा, सब सुन रही हूँ, तुम कहते जाओ।

तुम्हारी बातें मुझे जलेबी की चाशनी-सी मीठी मालूम होती हैं।

जगेसर—तुम ठीक कहती हो चम्पी। अपने राम भी ऐसा ही विचार कर रहे थे।

सूरे—अच्छा जगेसर, हम लोगों में सबसे ज्यादा दुखी कौन है, जानते हो ?

जगेसर—चम्पी।

(सुरे चुप रहता है। सुनता है, कौन क्या कहता है।)

चम्पी—नहीं, जगेसर।

सूरे—मैं भी यही समझता हूँ, जगेसर।

जगेसर—(ठडी सांस भरता है) सो तो है ही। अपने राम भी यही सोच रहे थे। (आवाज़ भारी हो जाती है।)

(स्वर की कृत्रिमता का भान कर चम्पी और सूरे, दोनों, हंस पड़ते हैं।)

(पट-परिवर्तन)

पंचम दृश्य

[बलराज का शयन-कक्ष। रात के ग्यारह बजने का समय है। ताक़ में रक्खी टाइम-पीस घड़ी टिक-टिक कर रही है। बलराज चुपचाप चारपाई पर लेटा है। टेबिल पर लालटेन जल रही है। पास ही कल्पना कुरसी पर बैठी है। वह हाथ में एक उपन्यास लिये हुए है। पानी बरसना अभी-अभी बन्द हुआ है। सड़क पर वेग से बहते नाले का स्वर कुछ तीव्रता के साथ आ रहा है।]

कल्पना—(अधीरता से) तो इस महीने में भी मेरे लिए हार नहीं बन सकता ?

बलराज—(उदासीनता से) कैसे बन सकता है ?

कल्पना—लेकिन तुमने तो वचन दिया था कि अगले मास ज़रूर बन जायगा।

बलराज—हाँ दिया था वचन। आशा की थी कि पिछला मकान-भाड़ा आधा चुका देने पर कुछ रुपया बच जायगा। परन्तु विवश होकर पूरा बक़ाया एक-साथ चुकता करना पड़ा।

कल्पना—तुम्हारे किये कुछ हो नहीं सकता। मैं पूछती हूँ, तुम मुझे ऐसा वचन ही क्यों देते हो जिसे पूरा नहीं कर सकते ?

बलराज—(प्रतिहत होकर) तो अब वचन भी नहीं दिया करूँगा।

कल्पना—(उत्तेजना से) मुझे मेरे घर ही क्यों नहीं भेज देते ? जब तुम निर्वाह-भर के लिए भी रुपया पैदा नहीं कर सकते तो—

बलराज—विवाह करने की ही क्या ज़रूरत थी ?—यही न कहना चाहती हो ? (तिलमिलाता हुआ उठकर बैठ जाता है।)

कल्पना—(उपन्यास को टेबिल पर पटककर) कहती नहीं हूँ, लेकिन क्या कह नहीं सकती ?

बलराज—कहो। मैं चाहता हूँ, जो कुछ भी तुम्हारे मन में आये, सब कह डालो। कोई भी बात रहस्य-रूप में मत रक्खो। उचित-अनुचित का विचार त्याग दो इस समय। इस बात का भी भेद भूल जाओ, चाहो तो, कि मैं तुम्हारा स्वामी हूँ।

कल्पना—ऐसी बात मत कहो।

बलराज—(अविराम गति से) इतना ही समझ लो कि मैं एक पुरुष हूँ और तुम नारी। मैं स्पष्ट रूप से यह भी तो जानने का अवसर पाऊँ कि तुम्हारे दृष्टिकोण से आखिर मैं हूँ कहां। मैंने विवाह किया और तुम्हारे भरण-पोषण, आनंद और सुख का उत्तरदायिव अपनी इन भुजाओं पर लेकर किया। मैं उसका यथाशक्ति निर्वाह भी कर रहा हूँ। किन्तु मैं देखता हूँ कि तुम्हारी आकांक्षाएँ अनन्त हैं। रोज़ तुम कह दिया

करती हो—तुम्हारे किये कुछ हो नहीं सकता। मैं स्वीकार करता हूँ, तुम ठीक कहती हो। जिस नारी की इच्छाओं का अन्त नहीं है, प्राप्य से संतुष्ट न रहकर जो अप्राप्य के लिए झड़कती और रोती है, बाह्याडम्बर के मोहावरण को जो त्याग नहीं सकती, उसके आगे मैं हार मानता हूँ।

कल्पना—(आन्दोलित होकर) ऐसा तो कहोगे ही। शोभा भी बहुत देता है, तुम्हारा यह कथन। तुम पार्क में घूमने जा सकते हो, मित्रों में मनोविनोद कर सकते हो, नाटक, सरकस और सिनेमा देख सकते हो, नित्य कपड़े बदलते रहने का तुम्हें पूरा अधिकार है; किन्तु स्त्री तो जड़ पदार्थ है न! खुली वायु में घूमना-टहलना, सखियों का संसार बनाना, उनमें मिलना और उनके साथ कहीं जाना-आना, घूमना और अपने लिए आवश्यक वस्त्राभूषणों की याचना करना स्त्री के लिए कभी न आवश्यक है न आनन्दकारक। तुम यही न कहना चाहते हो?

बलराज—मैं कभी ऐसा नहीं सोचता। लेकिन मैं यह अवश्य मानता हूँ कि भरण-पोषण के क्षेत्र से परे नारी का एक दूसरा जगत् भी है। वह है उसकी आत्मा का एकांत क्रोड़। एक बार जब वह अपने स्वप्नों के राजा को उसमें आसीन कर लेती है, तब जीवन की असाधारण सुखोपभोग सम्बन्धी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न गौण हो जाता है; मुख्य विषय तो आत्मिक तृप्ति का है।

कल्पना—यह एक भ्रम है। शारीरिक भोग से परे आत्मिक आनंद नाम की कोई वस्तु संसार में है, मैं नहीं जानती।

बलराज—(विस्मय से चौंक उठता है। पुन: चैलेंज की भांति) अच्छी बात है कल्पना। अब से तुमको इस सम्बन्ध में मुझसे कोई शिकायत न होगी। आज के बाद तुम कभी इस तरह की बातें कहने का अवसर न पाओगी।

कल्पना—(इकटक बलराज की गम्भीर मुद्रा को देखती है। फिर खिड़की के बाहर सिर निकालकर थोड़ी देर खुले गगन की ओर देखकर पुन: बलराज की ओर बढ़ती हुई) तुम मुझसे नाराज़ तो नहीं हो गए ?

बलराज—(बिस्तरे पर सिर टेककर) नाराज क्यों होने लगा ? यह तो अपने-अपने उसूल की बात है।

कल्पना—(पास आकर) तो चलो खाना खा लो। बड़ी देर से रक्खा ठण्डा हो रहा होगा।

बलराज—भूख तो अब मुझे रह नहीं गई कल्पना। तुम जाकर खा आओ।

कल्पना—(घुटने टेककर बैठ जाती है) आज की बातों के लिए मुझे क्षमा कर दो। मैं तुम्हारा जी दुखाना नहीं चाहती। सभी सुख भाग्य से ही मिलते हैं। तुम इतना दु:खी क्यों होते हो ? मैं अब कभी तुमसे किसी चीज़ के लिए कुछ कहूँगी ही

नहीं। (हाथ पकड़ लेती है) चलो उठो, तुम्हें मेरी क़सम।

(बलराज निःश्वास लेता है। फिर थोड़ी देर ठहरकर उठता है।)

(दोनों भोजन करने के लिए नीचे जाते हैं।)

(पट-परिवर्तन)

द्वितीय अङ्क

प्रथम दृश्य

[प्रेमनगर में एक छोटा-सा बंगला। आगे एक छोटी कुंज। चारों ओर लगी गोल क्यारियों में खिले हुए गुलाब के फूल और झर-झर झरता फव्वारा। भरे जल में रंगीन मछलियों का कल्लोल।

कल्पना फव्वारे से युक्त जल के ऊपरवाली गोल मुंडेर पर बैठी, नीचे पैर लटकाये हुए, मछलियों का तैरना और खुश हो-होकर नाचना देख रही है।

सरदी के दिन हैं। कल्पना कंचुकी के ऊपर जैकेट पहने हुए है। महीन रेशमी साड़ी के ऊपर एक चौड़ा ऊनी मुलायम मफ़लर पड़ा हुआ है। सन्ध्या होने जा रही है। शरबती (दासी) तश्तरी में पान, इलायची, सौंफ़ और जावित्री लिये खड़ी है।

कल्पना बाहर से आ रही कार का तीव्र हार्न सुनकर फाटक की ओर देखती है। देखती है, विलासचन्द्र एक युवती को लेकर आया है।]

कल्पना—(अत्यन्त प्रसन्नता से बरामदे की ओर बढ़ती हुई) **आज कितने दिनों बाद ?**

विलासचन्द्र—(एकदम से दृष्टि नीची करके) **हाँ, क़रीब एक साल बाद** (क्षण-भर चुप रहकर, युवती की ओर संकेत करके) **हमारे**

कालेज की लेट छात्रा मिस कामना बी० ए०, रिटायर्ड सेशन्स जज ऑनरेबल मिस्टर टण्डन की पुत्री। वायलिन बहुत अच्छा बजाती हैं।—एक दम से कल्पना के उस पार जा पहुंचती हैं। और आप (कल्पना की ओर देखकर) की क्या प्रशंसा करूँ, सब बतला ही चुका हूँ।

कल्पना—(खिल खिल करती हुई) तो आप कल्पना के भी उस पार जा पहुँचती हैं मिस कामना! खूब! (बैठक की ओर चलती है।)

(कमरा हवादार है। दरवाज़ों पर चुन्नटदार रंगीन परदे पड़े हैं। गद्देदार कुरसियाँ और सोफ़े हैं। रेशमी क्रींट का आवरण उन पर चढ़ा हुआ है। फ़र्श पर ईरानी क़ालीन बिछा है। बीच में एक गोल टेबिल है, जिस पर ताज़े फूलों का एक गुलदस्ता सजा हुआ रक्खा है। दीवाल पर सुन्दर पेंटिंग हैं। अन्दर प्रवेश करते ही दासी धूप-बत्ती सुलगा जाती है। कामना और विलास सोफ़े पर बैठते हैं।)

कामना—(मुसकराकर) आपका परिचय पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

(कल्पना ध्यान से कामना को देखती हुई सोचती है—मुद्रा मोहनी डालनेवाली, शरीर की गढ़न अतीव आकर्षक और वस्त्राभूषण अप-टू-डेट।)

कल्पना—(कामना के कथन के अनन्तर कुरसी पर बैठकर) मुझ से भी ज्यादा?

कामना—मेरा मतलब यह है कि पहले तो......। आप अभी थोड़े ही दिन हुए इस बंगले में आई हैं।

कल्पना— (कुछ गम्भीर होकर) हाँ, पहले एक मामूली-से मकान में रहती थी। (कुछ ठहरकर) आप आजकल क्या करना सोच रही हैं ?

कामना—मैं....मैं तो (कुछ अस्थिर-सी हो उठती है) कुछ सोचती नहीं। यों ही थोड़ा पढ़ना और वायलिन से खेलना।

कल्पना—(उत्सुकता से) तो मुझे यह सौभाग्य कब प्राप्त होगा ?

कामना—मैं सेवा करने के लिए सदा तैयार हूँ। (मुसकराती है।)

कल्पना—(कुछ सोचते हुए) अगले इतवार को ठीक रहेगा। (विलासचन्द्र की ओर देखती है।)

विलासचन्द्र—हाँ, बस अगला इतवार ठीक रहेगा (दीवाल की पेंटिंग देखते हुए चकित होता है।)

कल्पना—तुमने यह नहीं बतलाया विलास कि इतने दिन तक रहे कहाँ ? आये क्यों नहीं ? (उसकी ओर ध्यान से देखती है।)

विलासचन्द्र—(कुछ अस्त-व्यस्त होकर पहले कामना की ओर दृष्टि डालता है, फिर कल्पना की ओर, फिर दृष्टि नीची कर लेता है।) मैं...रहा तो यहीं, लेकिन...आ नहीं सका कल्पना। कुछ तो पढ़ने का भी खयाल रहा। कुछ...

कल्पना—(अविराम गति से) अन्य बातों का।

(कामना उठकर पेंटिंग देखने लगती है।)

विलासचन्द्र— (गम्भीरता से) बात यह है कि मैंने देखा, मेरा आना-जाना तुम्हारे लिए अहितकर भी हो सकता है। (कल्पना के गले में हार देखकर)...और आज मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि तुम पहले से कहीं अधिक सुखी हो। यही मैं चाहता भी था।

(कामना पेंटिंग देखती-देखती बाहर बरामदे में जा पहुँचती है।)

कल्पना—(कुछ देर चुप रहकर) मैं पहले से अधिक सुखी हूँ; और न आने की अपेक्षा आना अधिक अहितकर हो सकता है!

विलासचन्द्र—(थोड़ा रुककर) तुम्हें थोड़ा भ्रम हो रहा है कल्पना।

कल्पना—(उत्तेजना से) और तुम भ्रम से सर्वथा परे हो! कल्पना से परे होकर तुम मानवता से भी परे जा पहुँचे हो! तुममें राग नहीं है, तृष्णा नहीं है। प्राणों के भीतर तुमुल नाद करने वाले मानवात्मा के समस्त आक्रोश और क्रन्दन से तुम दूर—सर्वथा दूर—जा पहुँचे हो। (और उत्तेजित होकर) इतना छल, ऐसा मिथ्याडम्बर, ऐसी प्रवञ्चना तुम मेरे साथ करोगे, मिस्टर विलास?

विलासचन्द्र—(प्रतिहत होकर) कल्पना!

(दासी चाय की ट्रे ले आती है। सयत होती हुई कल्पना उसे टेबिल पर रख लेती है।)

विलासचन्द्र—कामना !

कामना—(वहीं से) आती हूँ।

(कामना का प्रवेश)

कल्पना—(चाय तैयार करती हुई) तो तुम कल्पना से भी परे जा पहुँचती हो कामना ! (मुसकराती है।)

कामना—आप भी विलास बाबू की बातों में उलझ जाती हैं। (मुसकराती है।)

विलासचन्द्र—इतना बड़ा सौभाग्य मेरा नहीं है मिस कामना ! (चाय सिप करता है।)

कल्पना—(कप को चम्मच से घोलती और रुकती हुई, विलास की ओर दृष्टि डालकर) कल्पना कभी सीमाओं की चेरी नहीं रहती विलास बाबू। जीवनगत बन्धनों से परे, स्वप्नों का वह जो एक संसार होता है, जहाँ राग-द्वेष की सत्ता नहीं, भेदाभेद की गति नहीं, शृङ्खलाएँ और अवरोध जहाँ हाथ बाँधे द्वार पर ही खड़े रहते हैं, उसमें एक बार प्रवेश कर लेने पर, मैं नहीं जानती विलास बाबू, मैं कहाँ हूँ और कहाँ जा रही हूँ। जानने की आवश्यकता भी नहीं समझती।

कामना—(ध्यान से कल्पना का मर्म ग्रहण करती हुई) विलास बाबू भाग्यवादी नहीं हैं, श्रीमती कपूर ! शिष्टाचार के भाव

से ही यहाँ उन्होंने 'भाग्य' शब्द का प्रयोग किया है। (चाय पीती है।)

विलासचन्द्र—मैं क्या कहूँ, यह तो प्रश्न ही दूसरा है। पर स्वप्नों के जिस संसार की बात तुम अभी कह रही थीं कल्पना, उसमें प्रवेश करने की क्षमता मैंने पायी कहाँ ?

कल्पना—(कप खाली करती हुई) पन्द्रह महीने के बाद ये आज आये हैं मिस कामना ! पर अब की बार पन्द्रह बरस बाद आयेंगे। (पान, इलायची तथा सिगरेट-दियासलाई की डब्बी तश्तरियों में ले आकर शरबती चाय की ट्रे ले जाती है।)

विलासचन्द्र—(सिगरेट का कश लेकर, शरीर को कुरसी के थोड़ा आगे खिसकाकर, पैर पर पैर रखता हुआ आराम से बैठता है। उसके बाद) मैं जानता था, तुम मुझसे नाराज होओगी कल्पना ! लेकिन अभी तक मैंने तुमको नाराज़ करने का कोई काम किया नहीं। उस दिन पसन्द आ जाने पर मैं तुम्हें वह साड़ी भेंट करना चाहता था। पर तुमने मेरी उस भेंट को स्वीकार नहीं किया, तो मैंने समझ लिया था, वास्तव में मैंने ग़लती की है। मैंने सोचा, विलास को फिर से ऐसी ग़लती नहीं करनी है। इसलिए मैं जानबूझकर नहीं आया।

कल्पना—अच्छा महात्माजी, आपको नमस्कार है। (कुटिल हास्य)

विलासचन्द्र—(अविराम गति से) कितनी आँधियाँ आईं, कितने बवण्डर उठे, क्या बतलाऊँ ? कितनी बार

मैं तुम्हारे मकान के पास आ-आकर लौट गया, कितने पत्र लिख-लिखकर फाड़ डाले! सदा मैं यही सोचता था—कल्पना के मनोराज्य में मैं जाऊँ क्यों ? समाज के आगे काला मुँह करना आदमी सहन कर लेता है, किन्तु जीवन के आगे जो गड्ढे और खन्दक आते हैं, उनसे अपने आपको न बचाकर जो व्यक्ति पतन के गहरे गर्त में ही जा गिरता है, उससे मुक्ति पाने का मार्ग तो मनुष्य की सामर्थ्य से परे है।

कल्पना—और तुम जीवन को पतन के गर्त से बचाते रहने के ठहरे एक सम्भ्रान्त ठेकेदार। (उत्तेजना से उसका मुख विवर्ण हो उठता है) तुम इस बात का निश्चय करने के ठहरे एक योग्य अधिकारी कि पतन क्या है और उत्थान क्या। आदर्श तुम्हारे कशाघात से उत्पन्न होता है; कर्तव्य तुम्हारी हिंसक वृत्तियों का क्रीत दास रहता है। सामाजिक उत्कर्ष की जो चोटियाँ हैं, उसके ऊँचे-ऊँचे शिखर, वे तुम्हारे ही दृष्टिकोण का अवलम्ब ग्रहण करके स्थिर हैं।

विलासचन्द्र—(गंभीरता से) मेरे साथ तुम बहुत बड़ा अन्याय कर रही हो कल्पना।

कल्पना—क्योंकि सच्ची बात सुनते हुए तुम्हें बुरा लगता है। कड़वी घूँट दवा होकर भी विषाक्त प्रतीत होती है। अभी-अभी तुमने कहा था—तुम्हें याद होना चाहिए कि—अब तो तुम बहुत सुखी हो। कैसे तुमने इस तरह की बात कह डाली ?

विलासचन्द्र—(विस्मय में डूबकर) मैं कुछ समझा नहीं। मैं नहीं जानता, मैंने क्या ग़लती की। मास्टर साहब तो अच्छी तरह हैं न ? गये कहाँ हैं ? कोई झगड़ा तो नहीं हुआ ?

कल्पना—(उदासीन होकर) वे बम्बई गये हैं। एक बार शुरू-शुरू में आये थे। उसके बाद नहीं आये। साल-भर हो गया।

(एक सन्नाटा-सा छा जाता है।)

विलासचन्द्र—तो साथ में कौन रहता है ?

कल्पना—मौसी हैं और उनका एक छोटा लड़का।

(विलासचन्द्र सिगरेट का कश लेकर उठ खड़ा होता है।)

कामना—आप इस समय दुखी हैं, श्रीमती कपूर। अब आराम करें। मैं फिर आऊँगी। (उठती है।)

(विलास और कामना आगे-आगे, पीछे कल्पना बरामदे में आती है। विदा के समय दोनों नमस्ते करते हैं। कामना विलास के बगल में बैठती है। कल्पना भीतर चली आती है। विलास कार स्टार्ट कर चल देता है। कल्पना उसकी आवाज सुनती हुई सोफे पर लेट रहती है।)

(पट-परिवर्तन)

द्वितीय दृश्य

[कामना की कोठी का एक आवास। रात्रि का द्वितीय प्रहर। बिजली के लैंप का हरा मन्द प्रकाश। दो बिछे हुए पलग; एक पर कल्पना, दूसरे पर कामना। कल्पना के कपोलों पर आँसुओं के सूखे दाग, कामना चिन्ताग्रस्त। किवाड़ से लगकर बाहर की ओर देखती हुई कल्पना गाती है।]

(गायन)

बस, तरस गया यह मेरा मन।
उनके जाने के बाद आज—
जब बरस पड़े कुछ श्यामल घन॥

पहले कुछ नन्हीं गिरीं बूँद—
लग गयी झड़ी फिर अविश्रान्त।
मैं ललच-ललच रह गयी, अरे
अब कौन करे सन्धान कान्त!

पलकों पर, ओंठों पर, उर पर,
अब कौन लोकने जाय बूँद।
सिहरन की घड़ियाँ कौन छुए,
सागर तज अपनाये जल-कन।
जब तरस गया यह मेरा मन॥

सरिताओं ने आह्वान किया,
तरिणी बोली—पतवार गहो।
हम वहें तुम्हारी अनुगति में
तुम हँस-हँस अपनी बात कहो।

आयी हिलोर खिल-खिल करती
बाहें दीं मेरे गले डाल।
अब बही जा रही मौन विवश,
मैं लक्ष्यहीन, तुम अगम गगन।

बस, तरस गया यह मेरा मन॥

कामना—(गायन के समाप्त होने पर कुछ देर बाद निःश्वास लेकर) मेरा यह जीवन किसी के काम न आया। सदा मैं भ्रमित पथिक की भाँति भटकती ही रही। सदा मुझे लोगों ने अपने कपटा-चरण का शिकार बनाया। किंतु आज तुम्हारा स्पर्श पाकर मेरी आँखें खुल गई हैं। बतलाओ बहन, मैं तुम्हारे किस काम आ सकती हूँ।

कल्पना—मैं क्या बतलाऊँ ? मैं तो स्वयं तुम्हारे अवलम्ब की भूखी हूँ। तुम्हारे सिवा अब मेरा है कौन ? (थोड़ी देर ठहरकर) चलो, हम-तुम कहीं ऐसे स्थान पर जाकर रहें जहां पुरुष की छाया भी न आ सके।

कामना—(कल्पना के पलँग पर आकर बैठ जाती है) क्या यह संभव है बहन ? संसार की सारी वसुधा, उसका सारा ऐश्वर्य, आज पुरुष के ही अधीन है। पुरुष जाति से परे हमारी गति कहाँ है ?

कल्पना—कहती तो तुम ठीक हो, कामना। किन्तु क्या यह संभव नहीं हो सकता कि गंगा के उस पार एक आश्रम बनाया जाय। वहाँ अनाथ बालिकाओं की शिक्षा इस ढँग से हो कि समर्थ होने पर वे स्वावलम्बी हो सकें। पुरुष-समाज के लिए वे ज्वाला की मूर्ति हों। नारी जाति के साथ अत्याचार करनेवाले नर-पशुओं का संहार ही उनका एक-मात्र लक्ष्य हो।

कामना—(व्यंग्य से मुसकराती है) उद्देश्य तो बड़ा पवित्र है !

कल्पना—तुमको इस उद्देश्य की सफलता में, जान पड़ता है, कुछ सन्देह है।

कामना—नहीं, मैं दूसरी बात सोचती हूँ। (मुसकराती है।)

कल्पना—(अधीर होकर) बताओ न। देर क्यों कर रही हो ? (उठ बैठती है।)

कामना—(गम्भीर होकर) बुरा तो न मानोगी ?

कल्पना—तुम कहो न। संकोच मत करो।

कामना—तुम अभी अबोध हो कल्पना। अभी तुम्हारा अनुभव बिलकुल कच्चा है। पुरुष को तुम नारी से सर्वत्र भिन्न देखती हो। तुम्हें इतना भी तो ज्ञान नहीं है कि नारी के बिना पुरुष अपूर्ण है—वैसे ही जैसे पुरुष के बिना नारी। मुझे अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का जो अवसर मिला, उसका एक-मात्र कारण यही है, मैं सदा कल्पना के उस पार चली जाती रही। आघात सहकर सदा मैंने यही सोचा कि पुरुष नारी के मनोराज्य के लिए एक अभिशाप है। कुछ दिनों तक मैं

इस विचार पर दृढ़ बनी रही। पर अंत में मैं फिर प्रतिक्रियाओं की शिकार हुई। बीच में न रहकर, कोई सामंजस्य न स्थापित कर, मैंने फिर बिना कुछ सोचे-विचारे अपने आपको पुरुष के आगे समर्पित कर दिया।

कल्पना—तुमने बड़ी ग़लती की।

कामना—हां, की ग़लती। मानती हूँ। किन्तु मर्यादा के बिना यही सर्वथा स्वाभाविक है बहन। पति नारी के लिए एक मर्यादा है। सामाजिक रूढ़ियाँ और उनके द्वारा संघटित होनेवाले नित्य के अनाचार तो उस समय समाप्त हो जाते हैं, जब नारी का महाप्राण किसी पुरुष के चरणों पर उत्सर्ग होने के लिए पागल हो उठता है। (कल्पना विस्मित हो उठती है) विलासचन्द्र के सम्पर्क में आकर तुमने जो अपनी रक्षा की, वह तुम्हारे लिए गौरव की बात है। किन्तु प्रमाद-भरे मन की यह प्रारंभिक स्थिति है। पुरुष और स्त्री के पारस्परिक मिलन का पथ भविष्य के आंगन में प्राय: अन्धकार पूर्ण रहता है। उस समय क्या पुरुष और क्या स्त्री, दोनों अपना अधिकार खो बैठते हैं। महा तपस्वी शंकर भी उस समय अपनी रक्षा नहीं कर सकते।

कल्पना—तो तुम भी यही कहना चाहती हो कामना, कि पति के सिवा नारी की कोई गति नहीं है।

कामना—हाँ बहन।

(कल्पना दो तकियों पर सिर रखकर लेट जाती है और साड़ी से अपना मुँह ढक लेती है।)

(दासी का प्रवेश)

कामना—क्या है ?

दासी—दरवाजा बन्द कर लूँ ?

कल्पना—(उठ बैठती है) नहीं, मैं जाऊँगी। मेरे लिए ताँगा लाना होगा।

कामना—जाओ, ताँगा ले आओ।

(दासी का प्रस्थान)

कल्पना—(थोड़ी देर मौन रहने के बाद आँसू भरकर) मैं मर जाऊँगी, कामना !

कामना—पागल हो रही हो ! (उसके आँसू पोंछती है।)

कल्पना—चलते समय मैंने उनसे क्या नहीं कहा था ! कितनी बार मैंने अपराधों के लिए उनसे क्षमा नहीं मांगी थी ! उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया था कि मैं सदा तुम्हारा ही रहूँगा।

कामना—मैं कल ही बम्बई जा रही हूँ। तुम विश्वास रक्खो बहन, वे सदा तुम्हारे ही रहेंगे।

कल्पना—(कामना से लिपट जाती है) कामना ! (वक्ष से चिपटकर रोती है।)

कामना—(उसके आँसू पोंछती हुई स्वतः आँखों में अश्रु भर लेती है) तुम अधीर न होओ कल्पना। मुझसे तुम्हें कभी धोखा न होगा। सब तरह से मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।

(दासी का प्रवेश)

दासी—ताँगा आ गया ।

(कल्पना उठकर जाने लगती है और कामना उसको द्वार तक भेजने आती है ।)

कल्पना—(चलती हुई) **मैं कल प्रातः फिर आऊँगी ।**

(कल्पना का प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

तृतीय दृश्य

[प्रेमनगर में बलराज का वही बँगला। रविवार का दिन। ओस की बूँदों से भीगा प्रातःकाल। सोनहली धूप पोर्टिको के ऊपर छायी हुई लता से छनकर आ रही है। कार नीचे खड़ी हुई है। भीतर बैठक में बैठे कल्पना और विलासचन्द्र बातचीत कर रहे हैं। कल्पना कौच पर चुपचाप बैठी ताज़ा दैनिक-पत्र देख रही है। विलासचन्द्र सिगरेट का धुआँ उड़ा रहा है। पैर-पर-पैर रक्खे हुए वह इतमीनान से बैठा है।]

विलासचन्द्र—(सिगरेट का टुकड़ा ऐश-ट्रे में दबाकर) **मैं तुमको समझ नहीं सका कल्पना। मेरा सारा पढ़ना-लिखना, अध्ययन और ज्ञान, तुमने एकदम से व्यर्थ कर डाला।**

कल्पना—**स्वतः मैं अपने आप को नहीं जान पाती।...... तुम तो अपने आपको जानते होगे।**

विलासचन्द्र—**मुझे पहले कभी, नये सिरे से, अपनी ग़लती अनुभव करने का अवसर नहीं मिला। लेकिन उस दिन मुझे पता चला, मैंने तुम्हारे यहाँ साड़ी छोड़ जाकर ग़लती की थी।**

कल्पना—(उत्तप्त होकर) **अब फिर कभी ऐसी ग़लती न करना।**

विलासचन्द्र—(दोनों पैर एक साथ फ़र्श पर रखकर) **तुम**

मुझसे चाहती क्या हो कल्पना, मुझे साफ़-साफ़ बता दो।

(परदे के नीचे से बिल्ली का बच्चा कल्पना के निकट आकर बोलने लगता है—म्याऊं ! फिर विलास की ओर देखकर—म्याऊं ! कल्पना उसे गोद में ले लेती है।)

कल्पना—(पीठ पर हाथ फेरकर उसके रेशम-से बालों को चुटकी से मसलती हुई) मेरे बदले इसने उत्तर दिया तो ! सुना नहीं ?

विलासचन्द्र—मैं इस समय मज़ाक के मूड में नहीं हूँ, कल्पना !

कल्पना—(बच्चे को गोद में भरकर) मैं भी नहीं हूँ। (गोद से उतार देती है) (ज़ोर से) इस 'फ़िलॉसफ़र' को ले जा मुन्ना।

विलासचन्द्र—इसका नाम तुमने फ़िलॉसफ़र रक्खा है ?

कल्पना—क्यों, इसमें आपको आश्चर्य हो रहा है ? क्या आप सोचते हैं कि मैं इसका नाम विलासचन्द्र रखती ? मैं भला ऐसी धृष्टता कर सकती हूँ ? ऐसी आशा आप मुझसे कभी न करें।

(विलासचन्द्र उठ खड़ा होता है। मुन्ना आकर बिल्ली के बच्चे को ले जाता है।)

कल्पना—बैठिये। नाराज़ मत होइये मिस्टर विलास। आपने लाजिक पढ़ी है, मैं जानती हूँ। लेकिन इन पन्द्रह महीनों में मैंने भी कुछ पढ़ा है। बतलाइये, मैं आज फिर वही प्रश्न करती हूँ—आपने उस दिन वह माड़ी मुझे

क्यों भेंट की ? आपने मुझे क्या समझा था ? (मुद्रा रक्ताभ हो जाती है ।)

विलासचन्द्र—(बैठकर विस्मय और दुःख से) तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है कल्पना। मुझे तुम्हारी परीक्षा करानी होगी। कल ही से मैं तुम्हारा यह हाल देख रहा हूँ। मुझे दुःख है कल्पना, मैं तुम्हें समझ नहीं पाया।

(कल्पना सीट में लगे पुकार का स्विच दबाती है । भीतर घंटी बजती है । आवाज़ के साथ शरवती का प्रवेश।)

कल्पना—चाय तैयार नहीं हुई ?

शरबती—लाती हूँ।

कल्पना—दो कप तैयार करके ले आ। मेवा भी लाना।

शरबती—अभी ले आती हूँ।

(शरवती का प्रस्थान)

कल्पना—कामना को ही समझना यथेष्ट है। वह कल्पना के भी उस पार पहुँच जाने की क्षमता जो रखती है !

विलासचन्द्र—ओह ! तो यह कहो कि यह मामला इस तरह चक्करदार है ! अब समझा, कल्पना !

कल्पना—कामना मुझे राई-रत्ती सब बता चुकी है। कैसे तुम्हारा उससे परिचय हुआ, कैसे तुमने उसे ठगने की चेष्टा की—डोरे डाले ! वह सोने की घड़ी....वह जारजेट की साड़ी ! वह...

विलासचन्द्र—(अधैर्य और आत्म-ग्लानि से अभिभूत होकर) उफ़ ! माफ़ करो कल्पना ! मैं....मैं तुमसे क्षमा......मेरा अभि-

प्राय यह नहीं था। बस, और रहने दो, मैं तुम्हारे पैर... (दोनों हाथ नीचे कर लेता है।)

(कल्पना विलासचन्द्र की ओर इकटक देखती हुई अवसन्न हो उठती है।)

विलासचन्द्र—(यकायक उत्तेजित होकर) मैं कामना को इतना दुर्बल, नीच और क्षुद्र नहीं समझता था। (सिगरेट सुलगाकर कश लेता और धुआं उगलता है।)

कल्पना—(गम्भीरता से) अच्छा, मैं सब कुछ भूली जाती हूं, विलास। वह साड़ी मैं कामना से वापस लेकर तुम्हीं को लौटा दूंगी।

विलासचन्द्र—अच्छी बात है। मैं उसे तुम्हारे सामने ही जला दूँगा ! (कल्पना अमांगलिक बात सुनकर अप्रतिभ हो जाती है) उसकी लपटें जब मैं अपनी इन आँखों से देखूँगा तब मुझे कितनी खुशी होगी ! मेरी सारी जलन शान्त हो जायगी। क्षुद्र साड़ी का इतना दम ! (उठकर टहलता है।)

कल्पना—साड़ी को क्यों दोष देते हो ? उसने क्या बिगाड़ा है ? अपने मन को क्यों नहीं देखते ?

(शरबती आकर चाय के कप दोनों के आगे रख देती है।)

विलासचन्द्र—अच्छा, सारा दोष मेरा ही है, कल्पना ! केवल मैं ही दोषी हूँ। तुम ...... (कप उठाता है।)

कल्पना—(चाय पीती हुई) तुमने कभी शराब नहीं पी ? (विस्मय से) कभी नहीं पी ?

विलासचन्द्र—पीना चाहती हो ?

कल्पना—ऐसे ही पूछती हूँ। (लगातार चाय के कई घूंट निगल जाती है ।)

विलासचन्द्र—(काजू का छिलका अलग करता हुआ) मास्टर साहब का पत्र नहीं आता ?

कल्पना—आता है।

विलासचन्द्र—क्या लिखा करते हैं ? (एक पिस्ते का दाना मुंह में डालता है ।)

कल्पना—लिखते हैं, रुपये भेजता हूँ। आशा है, तुम प्रसन्न होओगी।

विलासचन्द्र—बस ?

कल्पना—(देर तक चुप रहकर) अब चलो चलें।

(कल्पना उठकर पोर्टिको की ओर जाती है। उसी समय बिल्ला सामने आ जाता है । वह उसे उठा लेती है ।)

मुन्ना—कहीं जाओगी दीदी ?

कल्पना—अभी आ जाऊँगी मुन्ना। (उसकी ठुड्ढी पकड़कर चूमती है ।)

(दोनों कार में बैठने के लिए सीढ़ी से उतरते हैं ।)

(पट-परिवर्तन)

चतुर्थ दृश्य

[बम्बई के ओरियंट होटल का एक आवास। पर्दे डालकर पार्टीशन किये हुए कक्ष। खिड़कियों पर सोनहले रेशमी पर्दे। चारों ओर यथेष्ट ऊंचाई पर लटके हुए यशस्वी कलाकारों के विरक्ति, घृणा, अट्टहास तथा आन्तरिक व्यथा आदि भावों के मुद्रा-चित्र। प्रथम जनवरी का सुप्रभात। राकिंग चेयर डाले हुए दो कलाकार (एक्टर) परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं।]

प्रथम—**जान पड़ता है, रात को निद्रा ठीक तरह से आयी नहीं।**

द्वितीय—(चौंककर) **निद्रा! हाँ, ज़रा-सी देर के लिए, एक बार आयी थी। पर जब मैंने कहा—थोड़ी देर और ठहरो, तो वह सुनी-अनसुनी करके चली गई। उसके बाद जब वह असमय आई, तो मैंने उसे अन्दर प्रवेश करने का अवसर नहीं दिया।**

प्रथम—(कुतूहल से मुसकराते हुए) **अच्छा, यह बात है!** (इसी क्षण द्वार खुलता है और एक एक्ट्रेस अन्दर आती है। साड़ी के ऊपर कोट पहने हुए है। पैरों में नीली मखमल की कामदार दिल्ली-वाली जूतियाँ हैं। साड़ी की कोर पर ज़री का काम किया हुआ है।)

प्रथम—(मुसकराते हुए) आओ मिस निद्रा, तुम्हारी उमर बड़ी हो।

निद्रा—(खिल-खिल) ऐसी क्या बात है, फ्रेण्ड ?

द्वितीय—(देखते ही गम्भीर हो जाता है) बहुत प्राइवेट बात कर रहा हूँ मिस निद्रा। थोड़ी देर बाद आओ तो ठीक होगा। (दृष्टि नीचे ही बनाये रखता है।)

(निद्रा चुपचाप जाने लगती है।)

प्रथम—ऐसी क्या बात है; आप भी अजीब क़िस्म के आदमी हैं। (निद्रा की ओर देखता हुआ) बैठो मिस निद्रा, इनका मिजाज़ आजकल कुछ गरम रहता है। अरे, एक घर त शैतान भी छोड़ता है मियाँ, होश में आओ। शिष्टाचार भी कोई चीज़ है, आखिर।

(अप्रतिभ निद्रा पहले ज़रा ठहरती, किन्तु है फिर चल देती है)

द्वितीय—(उठकर) मैं नहीं जानता मिस्टर नवीन, शिष्टाचार क्या चीज़ होती है। मैं यह भी नहीं जानता कि आज का सभ्य पुरुष कैसा होता है। मैं तो केवल नारी को ही जानता हूँ। उसी को देखता हूँ। लेकिन उसे देखने और समझने का मेरा तरीक़ा और लोगों से कुछ भिन्न अवश्य है। (द्वार बन्द करता है।)

नवीन—(उत्तेजित होकर) विकृत मन का प्रमाद है यह। मनुष्य-स्वभाव को तुम बदलना चाहते हो। तुम चाहते हो सागर का जल मीठा हो जाय। मछली को जलाशय से बाहर

फेंककर तुम उससे जीवन और उसकी स्वाभाविक प्रगति की आशा करते हो। तुमको हो क्या गया है बलराज !

बलराज—(गम्भीरता से) ग़लत बात है। मिस निद्रा एक्ट्रेस है। उनके साथ हँसना और बोलना ही नहीं, लड़ना और झगड़ना भी पड़ता है। जीवन से दूर रहकर भी कर्तव्य के समय हम उन्हें निकट, अत्यन्त निकट, देखते हैं। किन्तु उन्हें निकट देखकर भी जिस तरह हम उनका जीवन अपना नहीं बना सकते, उसी तरह उन्हें अलग देखकर भी हम उनकी निकटता को खो नहीं सकते। आत्मीयता और शिष्टाचार दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। मिस निद्रा का वास्तव में अगर मैंने अपमान किया है, तो वह मेरा है।

नवीन—मैं आपको समझ नहीं पाता।

बलराज—(प्रसन्नता से) नवीन के लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पुरातन को नवीन ने पहचाना कब है। यद्यपि उसका निर्माण उसी से हुआ है, विकास रूप में प्रतिक्रिया वह उसी की है। (दरवाज़े के शीशे पर कुट-कुट का शब्द होता है।) ज़रा देखो तो, यह किसकी कृपा का फल है।

नवीन—(उठकर द्वार खोलते हुए) ओह मिस निद्रा, तुम फिर आ गईं !

निद्रा—(खिल-खिल) क्यों ? मेरा आना आपके लिए आश्चर्य का विषय है ?

बलराज—आओ, इधर आ जाओ। तुमने बुरा तो नहीं माना मिस निद्रा ? नवीन बाबू कहते हैं, तुम असभ्य हो ; तुमने एक सम्भ्रान्त रमणी का अपमान किया है।

निद्रा—(मुसकराकर) सभ्यता आजकल बड़ी सस्ती बिक रही है। मुझे तो ख़रीदना भी नहीं आता। नहीं तो मैं भी थोड़ी-सी ख़रीद लेती। (खिल-खिल)

नवीन—तुम कहती क्या हो निद्रा ! मैंने तो तुम्हारा ही पक्ष लेने की चेष्टा की थी। मेरे साथ यदि कोई ऐसा व्यवहार करता···

बलराज—(भृकुटियाँ तन जाती हैं) अब तुम जा सकते हो नवीन। मुझे मिस निद्रा से बहुत प्राइवेट बातें करनी हैं। (स्थिर दृष्टि से)

नवीन—(आवेश के साथ) मैं मिस निद्रा नहीं हूँ, बलराज ! थप्पड़ का बदला मैं पदाघात से देने का अभ्यासी हूँ।

बलराज—(क्रुद्ध होकर झपटता है। उसका हाथ नवीन की गर्दन पर जा पहुंचा है) चला जा यहाँ से, जंगली कुत्ते ! नहीं तो मैं तेरा गला घोंट दूँगा।

निद्रा—(तुरन्त निकट पहुचकर) बलराज, यह आप क्या कर रहे हैं ! (जोर से)

(ग्लानि से दबकर, नवीन बलराज की ओर देखता है और धीरे धीरे बाहर की ओर जाने लगता है।)

नवीन—(जाते हुए) जाता हूँ। लेकिन साथ-ही-साथ यह भी

बतलाये जाता हूँ कि इसका नतीजा अच्छा न होगा।

(नवीन का प्रस्थान)

निद्रा—(चिन्ता से) इस समय मेरा आना अच्छा नहीं हुआ।

बलराज—(प्रकृत प्रसन्नता में) तुम जो कभी-कभी इसी तरह समय-असमय का विचार किये बिना आ जाती हो, मुझे यह बहुत अच्छा लगता है। मनुष्य का यह क्लान्त शरीर और मन तुम्हारा ही मृदुल स्पर्श पाकर स्वप्न-राज्य की सृष्टि करता है। श्रान्त पथिक की एक-मात्र कामना हो तुम। (निद्रा कुछ चौकन्ना होती है) बोलो, मैं तुम्हारे किस काम आ सकता हूँ देवि? (अग्रदन्त झलकते हैं।)

निद्रा—बलराज, तुम मुझे बहुत प्रिय लगते हो। भगवान् की इस पावन सृष्टि में एक तुम्हीं ऐसे क्यों प्रिय लगते हो भला? मेरे शरीर का रोम-रोम तुम्हारी निकटता पाकर एक-दम से सिहर उठता है। मैं नहीं जानती, इतना कोमल हृदय और ऐसी मधुर वाणी पाकर भी क्यों लोग तुम्हें समझ नहीं पाते! आज हमारे वर्ग का प्रत्येक कार्याधिकारी तुम्हारे अप्रतिम अभिनय पर मुग्ध होकर भी व्यक्तिगत रूप से तुमसे डरता है, बलराज! जगत् के लिए तुम ऐसे रहस्यमय क्यों बने?

(बलराज उठकर टहलने लगता है। फिर खिड़की खोलकर खुले गगन की ओर देखता हुआ कुछ अस्त-व्यस्त होता है।)

निद्रा—बोलो बलराज, मैं आज यही जानने के लिए आयी हूँ।

बलराज—(कुरसी पर अन्यमनस्क भाव से बैठते हुए, कुछ स्थिर होकर) तुम्हारी निकटता सदा ऐसी ही मोहाच्छन्न होती है निद्रा। तुम्हारी लोरियों में भी एक जिज्ञासा रहती है। तुमने गहन कान्तार में अगणित हरिणियाँ पाल रखी हैं। मानवात्मा का सारा विमर्श उनके मृगछौनों के साथ कौतुक करता है। सुनता हूँ, तुम्हारे उस वन प्रान्त में अगणित पुष्करिणियाँ भी हैं। उनमें नील कमल खिले हैं, जिनके सद्यः स्नात पल्लवों का जल मानव-हृदय की सारी कालिमा धो डालता है। तुम्हीं सोचो निद्रा, मैं अपनी कौनसी बात तुमसे गुप्त रख पाता हूँ।

निद्रा—तुम ऐसे एकाकी क्यों बने बलराज ?—मनुष्य की यह सारी साधना, उसका समस्त विराट् आयोजना एकाकी रहने के लिए नहीं है। कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई एकान्त निलय तो उसकी मनोगत भावना-राशि की निष्पन्नता के लिए होना चाहिए।

बलराज—(दृढ़ स्वर में) ग़लत बात है। बलराज जानता है, मनुष्य की कामना क्या वस्तु है। (निद्रा अभिभूत हो उठती है) वह यह भी जानता है कि इस सृष्टि के समस्त कौतुकों की निवृत्ति कहाँ है। छाया की भाँति उसके समक्ष आगे-आगे दीख पड़नेवाली वह जो विलसित मरीचिका है, उसकी उत्पत्ति मनुष्य के अपने भीतर ही होती है। कहाँ तक वह चली जायगी, कोई जान नहीं

सकता। अज्ञात के पंख उसके लिए सदा खुले हैं। सीमाएँ बनाना उसने सीखा नहीं। बलराज को उस मरीचिका के आगे घुटने टेकना स्वीकार नहीं है।

निद्रा—ग़लती करना मनुष्य-स्वभाव है बलराज। तुम भी ग़लती कर रहे हो। मरीचिका से विलग मनुष्य रह कहाँ सका है! तिनका भी प्रवाह में आकर बहने लगता है। फिर मनुष्य का यह चंचल मन! विधाता की इस अलौकिक सृष्टि में मरीचिका से विरोध रखकर तुम जाओगे कहाँ? रहोगे कैसे? साँस कहाँ लोगे? देखोगे क्या? फिर कहती हूँ, प्रमाद है यह विकृत मन का। तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। चलो, आज मेरे यहाँ ही थोड़ी देर को चले चलो। (उठकर बलराज के वाम बाहुमूल पर हाथ रख देती है।)

बलराज—(कुछ सोचता हुआ) मैं कामना से हीन हो जाना चाहता हूँ निद्रा। मुझे अकेला रहने दो। मैं अपने आपसे संतुष्ट हूँ, अपने आप में पूर्ण। मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। मैं अभावों से परे हूँ। (मुद्रा विवर्ण हो उठती है, आँखें फटी-फटी-सी प्रतीत होती हैं) मुझे छोड़ दो। (निद्रा का हाथ हटा देता है।)

निद्रा—(प्रगल्भता से) तुम मेरी अवहेलना कर नहीं सकोगे। मैं तुम्हें अपने साथ ले जाऊँगी। मैं तुम्हें लेने ही आयी हूँ; छोड़ नहीं सकती। किसी तरह नहीं। चलो, उठो। (बलराज का हाथ पकड़ती है।)

बलराज—(निःश्वास लेता हुआ) मैं छुट्टी ले लेता हूँ। आज मैं

कुछ काम नहीं करूँगा। मझे पूरी स्वतन्त्रता है। मैं कहीं नहीं जाऊँगा। तुम भी यहीं रहो निद्रा। मैं मुख्याधिष्ठाता को पत्र लिखे देता हूँ। (हाथ छुड़ा लेता है।)

निद्रा—(दाँतों से जिह्वा दबाती हुई) ऐसा करोगे? कोई क्या समझेगा?

बलराज—कोई कुछ समझे निद्रा। मैं परवाह नहीं करता किसी के कुछ कहने की। मैं तुमसे मित्रता रखता हूँ। मेरी मित्रता भगवती मन्दाकिनी की भाँति पवित्र है, क्षीर-फेन की भाँति उज्ज्वल है, मोतियों की मालाएँ उससे विजड़ित हैं। संसार का सारा कलुष उसका दर्शन करके निर्मल हो जाता है। (ज्योतिर्मय हो उठता है।)

निद्रा—किन्तु मैं तो कामना से हीन नहीं हो पायी बलराज। मैं अपनी रक्षा कैसे करूँगी! अमर्यादित एकांत-वास तुम्हारे आदर्श के पथ में बाधक भी हो सकता है। (फिर बलराज का हाथ पकड़ती है) चलो, चलें।

(दोनों प्रस्थान करते हैं।)

(पट-परिवर्तन)

पंचम दृश्य

[सरसैया-घाट का राजपथ । माघी पूर्णिमा के मेले की रात—नौ बजने का समय । एक ओर एक लक्कड़ सुलग रहा है । उसी को घेर-कर सूरे, जगेसर और चम्पी एक ओर लुढ़क रहे हैं । सूरे के पास एक फटा कम्बल है । चम्पी एक गुदड़ी अपने ऊपर डाले हुए है । जगेसर ने एक जीर्ण-जर्जर रज़ाई से अपने को ऐसा ढक लिया है कि घुटने छाती से लगा लेने पर वह गठरी-सा बन गया है ।

वार्तालाप चल रहा है । एक कुत्ता इधर-उधर कुछ सूँघता और चल देता है । सड़क से आने-जानेवाले लोगों तथा ताँगा, इक्का और मोटरकारों का स्वर धीरे-धीरे कम हो रहा है ।]

सूरे—(कम्बल के भीतर से सिर निकालकर) अब भीड़ छुट रही है । मोटरों का भोंपू बजता हुआ नहीं सुनाई देता । इक्के-तांगे भी एक-आध ही आते-जाते हैं; सो भी कभी-कभी ।

चम्पी—इस साल मेला हलका रहा । उम्मेद थी, दो-एक रुपये के पैसे पा जाऊँगी । मगर.........

सूरे—(उत्सुकता से) कितने मिले पैसे ?

चम्पी—सवा बारह आने पैसे मिले, कुल । उनमें भी दो पैसे तो चलने से रहे । (थोड़ी देर रुककर) अब लोगों में ईमान-धरम का खियाल कुछ रह नहीं गया । पूछो, जब पुन्न

करने चले हो, तब इस बात का तो खियाल करो कि रद्दी पैसा इन लोगों के किस काम का ?

जगेसर—(सिर बाहर निकाल कर) सो तो है ही। अपने राम के साथ भी लोग ऐसी ही दगाबाजी कर बैठते हैं। लेकिन तब मैं अपनी असीस खींच लेता हूँ, सूरे !

सूरे—दुनिया में सब तरह के आदमी होते हैं। किसी ने धोखे में रद्दी पैसा दे ही दिया तो क्या हुआ ? तुमको जोड़कर धरना तो है नहीं। आज आया, कल उड़ाया। जमा-ख़र्च का कोई हिसाब तो रखना नहीं है। फिर पैसा आख़िर पैसा ही है। कभी-न-कभी चल ही जाता है।

चम्पी—मेरे पास एक काली दुअन्नी आ गई थी। एक-आध जगह नहीं चली तो मैंने समझ लिया, अब भला क्या चलेगी। लेकिन जैसा तुमने अभी कहा, एक दिन चल वह भी गई।

जगेसर—सो तो है ही। अपने राम ने भी ऐसा ही विचार करके देखा है। वे रद्दी पैसे मुझको दे देना चम्पी, मैं चला दूँगा। मुझे इसकी तरकीब आती है।

चम्पी—(हँसती है) सुनते हो सूरे ?

सूरे—(मुसकराते हुए) सुनता हूँ। (थोड़ी देर बाद करवट बदलकर) तुमको तो सरदी लगती न होगी, जगेसर ! तुम्हारे पास तो रज़ाई है।

जगेसर—लगती तो है, मुल लगने नहीं देता हूँ साली को। घुटने छाती से चिपका लेता हूँ।

चम्पी—सरदी जगेसर की साली है—साली, सूरे भाई! (हंसती है।)

सूरे—भाग्यसाली जो है।...कितने पैसे मिले होंगे जगेसर?

जगेसर—(चुपचाप पैसों की पोटली टटोलता है) यही आठ-दस आने मिल गए होंगे। अपने राम कभी गिनते नहीं हैं।

सूरे—लेकिन मेरा तो ख़याल था, दो रुपये से कम तुमने क्या पाये होंगे।

चम्पी—जगेसर को असल बात छिपाने में बड़ा मजा आता है। (उठकर बैठ जाती और लक्कड़ के पास खिसककर आग से तापने लगती है।)

सूरे—छिपाने की जरूरत ही क्या है? कौन कोई चोरी का माल है। दाता-धरमात्मा हम करते हैं; राजा बाबू, सेठ-सेठानी कह-कहकर अदना-से-अदना आदमी की खुशामद हम करते हैं। भगवान की सारी दया-ममता उसके लिए हम बुलाते हैं। तब कहीं चार पैसे पाते हैं। इसमें किसी का साझा नहीं रखते; एहसान नहीं रखते। (बैठकर आग से पैर सेंकने लगता है।)

जगेसर—सो तो है ही। अपने राम भी किसी साले का ऐसान नहीं मानते। हाथ जरा मैं भी गरम कर लूँ। (उठकर

लक्कड़ के पास खिसक आता है।)

चम्पी—मैं तो भगवान की दया कभी नहीं भूलती। सदा मुझे इसी बात का खियाल बना रहता है कि यह जनम बिगड़ा-सो-बिगड़ा पर अगला जनम तो न बिगड़े। जो पैसा देता है, उसका भी भला मानती हूँ। जो नहीं देता, उसका भी बुरा नहीं चाहती। हाँ, एक बात जरूर है, जो बिना मांगे एक बार सामने पड़ते ही दे देता है, उसका खियाल तो कुछ ज्यादा होता ही है।

जगेसर—सो तो है ही। जो किसी का ऐसान नहीं मानता, भला करनेवाले की भलाई नहीं चाहता, वह साला एक-न-एक दिन नरक में जरूर जाता है। अपने राम कभी इस बात को भूलते नहीं।

सूरे—(ऐसा हँसता है कि बत्तीसी झलकने लगती है) रामजी की लीला बड़ी विचित्र है।

चम्पी—(हँसती हुई) अपने राम की और भी विचित्र।

(थोड़ी देर सब चुप रहते हैं।)

सूरे—क्या सोचते हो जगेसर ? सरदी तो ज्यादा नहीं लगती ?

जगेसर—अरे हट्, हट्। (रज़ाई में छिप रहे पिल्ले को दुतकारता है) साला मुझी से अपना साझा भिड़ाता है आकर।

(पिल्ला कूँ-कूँ करता पूँछ हिलाता हुआ चला जाता है।)

चम्पी—प्यार करता है।

सूरे—क्यों जगेसर ?

जगेसर—मेरे पास प्यार करने को क्या रक्खा है। प्यार करना ही है, तो चम्पी से जाकर करे।

चम्पी—(हँसकर) प्यार मेरे पास बटता जो है। (गम्भीर हो जाती और निःश्वास लेती है।)

सूरे—कब से भेंट नहीं हुई ?

चम्पी—यह सब मत पूछो सूरे। कलेजे से एक हूक उठती है। गंगाजी में डूब मरने को जी चाहता है।

जगेसर—कभी देख पड़ें तो बताना। मैं उनकी कुछ खातिर कर दूँगा।

चम्पी—बहको मत जगेसर। इतना तो समझा करो कि कब कौन बात कहना ठीक होता है।

जगेसर—पागल हो। जिसने तुमको इस तरह गली-गली भीख माँगने को छोड़ दिया, लात मारकर घर से निकाल दिया, तुम्हारी जिन्दगी को मिट्टी में मिलाकर छोड़ा, उसी की याद में तुम सोच करने बैठी हो ?

चम्पी—तुम इन बातों को क्या जानो जगेसर ? इस्तरी का कलेजा कैसा होता है, तुमको कभी समझने का मौका मिला होता तो जानते ! (दुःख के वेग से अस्थिर हो जाती है। स्वर में कम्पन आ जाता है।)

सूरे—ठीक कहती हो चम्पी। स्वामी को देखने को जब प्राण छटपटाते हैं तो हृदय में तूफ़ान से उठने लगते हैं। आग-सी

धधकती है कलेजे में.......। उसने इसके साथ कैसा व्यवहार किया, यह दूसरी बात है। यह तो दूसरे पक्ष की बात हुई। मैं तो सिर्फ़ चम्पी की ओर देखता हूँ। देखता हूँ—अब भी इसकी आत्मा में कितनी गुञ्जाइश बाक़ी है। (चम्पी को सिसकते हुए पाकर) रोओ मत चम्पी ! भगवान् की हज़ार भुजाएँ हैं। उनकी छाया जब मनुष्य पर पड़ती है तभी वह इतना ऊँचा उठता है। यह एक तपस्या है, जिस दिन पूरी हो जायगी, उसी दिन तुम्हें मालूम होगा—तुम्हारी साध आज पूरी हुई।

जगेसर—सो तो है ही। जो भगवान् को भूलता नहीं, एक-न-एक दिन उसकी मनोकामना ज़रूर पूरी होती है। अपने राम को इसका पूरा बिसवास है।

(चम्पी आँसू पोंछकर चुप हो जाती है। एक सन्नाटा-सा छा जाता है। फिर सब लोग उसी तरह लुढ़क रहते हैं।)

(पट-परिवर्तन)

षष्ठ दृश्य

[विलासचन्द्र के बंगले का एक कक्ष । चारों ओर सोफ़े पड़े हैं । बीच में एक गोल चमकती हुई छोटी तिपाई, जिसके ऊपर रंगीन ताज़े पुष्पों का एक गुलदस्ता रक्खा है । प्रत्येक कोने में ऊँचे-ऊँचे स्टूल्स, जिन पर भावपूर्ण नग्न रोमन प्रतिमाएँ हैं ।

सायंकाल का समय । कल्पना एक सोफ़े पर बैठी हुई आइना देख रही है । उसके सिर के केश बिखरे हुए हैं । साड़ी भी उसने आज बदली नहीं है । रक्तिम आँखों की निचली पलकों पर कुछ बूँदें आकर चुपचाप सो गई हैं । मुख म्लान हो रहा है ।]

विलासचन्द्र—(द्वार से आते हुए) आज तुमने चाय भी नहीं ली। तबियत तो अच्छी है ? (नाड़ी देखता है) ओः, तुमको तो हरारत है। तब यहाँ मत बैठो। शयनागार में विश्राम करो। चाय पीने की इच्छा नहीं, न सही। थोड़ा दूध ही पी लो। (पार्श्ववर्ती सोफ़े पर बैठकर सिगरेट सुलगाता है।)

कल्पना—(पोर्टिको से काकातुआ का स्वर सुनकर) मेरा बिल्ला भी आज उदास है। मुन्ना के लिए वह हिड़क रहा है। अगर उसको कुछ हो गया तो मैं मर जाऊँगी। (थोड़ी देर चुप रहकर) मुझे यहाँ अच्छा नहीं लगता। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। संसार आज मेरे लिए शून्य है। मैं रो नहीं

पाती, गा नहीं पाती। मेरा बिल्ला जो कहानी कहता है, उसे सुन नहीं पाती। मैं जीती ही क्यों हूँ—मुझे जब किसी से कुछ कहना नहीं है, पाना नहीं है, उलहना नहीं देना है? मैं व्यर्थ हूँ, अपदार्थ हूँ।

विलासचन्द्र—(चिन्तित होकर) देखता हूँ, तुम्हारा पागलपन बढ़ रहा है। तुम अन्धकार में हो। तुम्हारी गति-मति स्थिर नहीं है। तुम कभी कुछ सोचती हो, कभी कुछ। अपने प्रशस्त पथ को तुमने छोड़ रक्खा है। तुम किसी के वश की नहीं हो। तुम्हारा हठ बढ़ गया है। तुम नियंत्रण नहीं चाहती, बन्धन नहीं चाहती। किसी की बात मानना तुम्हारे लिए दुर्लभ है। वरदान होकर तुम अभिशाप बन रही हो। रात-दिन के समुद्र-मंथन का यह दुष्परिणाम सर्वथा स्वाभाविक है। तुम पर मेरा वश नहीं है। मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ?

कल्पना—(उत्तेजना से) तो मुझे मेरे बँगले पर क्यों नहीं भेज आते? यहाँ रखकर क्यों मेरा दम घोंट रहे हो? मैं तुम्हारी कोई नहीं हूँ। नहीं, मैं किसी की कोई नहीं हूँ। व्यर्थ शिकायत रखते हो, मुझसे। मैं किसी की आशा नहीं हूँ—चेष्टा नहीं हूँ, कामना तो हो ही नहीं सकती। मैं उससे परे हूँ। तब मुझसे किसी को कोई शिकायत क्यों हो? मैं तुम्हीं से पूछती हूँ, मैं तुम्हारी कौन हूँ? मैं तुम्हारी बहन नहीं, सखी नहीं, प्रेयसी भी नहीं। मैं एक स्वतंत्र सौभाग्यवती नारी हूँ।....अरे, मैं

कह क्या गई ? वास्तव में क्या मैं सौभाग्यवती हूँ ? मैं तो कुमारी हूँ—चिरकुमारी। नहीं, मैं विधवा हूँ—विधवा। मैं स्पृश्य नहीं हूँ। कोई मुझे छू नहीं सकता, पा नहीं सकता। तुम मुझे यहाँ ले क्यों आये ? मुझे वहीं भेज आओ—मैं जाना चाहती हूँ। नहीं, मैं अकेली चली जाऊँगी। (उठती है।)

विलासचन्द्र—(नेपथ्य से आते हुए गायन को सुनकर) बैठो, देखो (उठकर कन्धे पर हाथ रखकर बैठालता है) सुनो, कैसा सुन्दर गायन है !

कल्पना—(बैठकर फिर उठती है) मैं बाहर जाकर देखूँगी, कौन गाता है। मैं वहीं जाकर गाना सुनूँगी। मैं भी गाना जानती हूँ। मैं देखूँगी, वह कैसा गाता है। मैं उसकी परीक्षा लूँगी, उसे पुरस्कार दूँगी।

विलासचन्द्र—(बैठालते हुए) वहाँ जाना ठीक नहीं है, कल्पना ! लोग देखेंगे, तो कहेंगे—कल्पना ग्रामीण नारी है, घर से निकलकर, सड़क पर दौड़ी आकर गाना सुनती है।

कल्पना—ठीक तो कहेंगे। कल्पना ग्राम-कन्या है; नहीं, वह ग्राम्यनारी है। ग्राम्यनारी भी नहीं; वह वन्य नारी है, वनलता है। देखे न कोई आकर—मैं क्या हूँ ! (फिर यकायक चुप रहकर गायन सुनती है।)

(गायन)

माझी, कितनी दूर किनारा ?
सन्ध्या गई, तमिस्रा छायी,

लहरों पर ज्योत्स्ना मुसकायी।
मेरे स्वप्न-गगन की चन्दा—
तूने मुझे पुकारा ?
(कल्पना की आँखें झपकने लगती हैं।)
माझी, कितनी दूर किनारा ?
सन्-सन् लगता पवन झकोरा,
कम्पित कर जाता हिलकोरा,
डगमग डोले जीवन-तरिणी—
माझी, बिना सहारा !
माझी, कितना दूर किनारा ?

कल्पना—(आँखें खोलकर उत्सुकता से) बस, समाप्त हो गया गायन ?

विलासचन्द्र—(कल्पना की ओर ध्यान से देखता हुआ) हाँ, बस इतना ही है। और होता तो वह जरूर गाता। याद होने पर कोई अधूरा गायन क्यों गाने लगा !

कल्पना—(अधीरता से) तो उस गायक से कह दो, यही गाना एक बार और गा दे। कह दो, कह दो अभी जाकर। नहीं, उस से कहना—उसे बराबर यही गायन गाना पड़ेगा—यहीं रहकर।

विलासचन्द्र—तुम शान्त तो रहो। मैं अभी जाता हूँ। लेकिन तुम रहना यहीं, कहीं जाना नहीं। मैं तुम पर भरोसा नहीं रखता। (पुकार का स्विच दबाता है।)

(सेवक का प्रवेश)

सेवक—हुज़ूर। (विलासचन्द्र की ओर देखता है।)

विलासचन्द्र—(कल्पना की ओर संकेत करके) देखना, कहीं चल न दें। मैं अभी आया। (विलासचन्द्र का प्रस्थान)

(सेवक दरवाज़े पर बैठ जाता है।)

कल्पना—(सेवक से) मेज़ पर से काग़ज़ और लिखनेवाला कलम उठा लाना।

(सेवक का प्रस्थान और पुनरागमन)

कल्पना—(पत्र लिखकर) इसको डाक बम्बे में छोड़ आना भला। किसी से कुछ कहना नहीं। टिकट आठ पैसे का लगा देना।

सेवक—हुज़ूर, अभी जाना होगा ? (कल्पना की ओर देखता हुआ हाथ जोड़ता है।)

कल्पना—नहीं, कोई जल्दी नहीं है। शाम तक छोड़ आना। मैं तुमको इनाम दूँगी, भला। (सेवक पत्र को जेब में रख लेता है) भूलना नहीं।

सेवक—हुज़ूर ऐसा भी कभी हो सकता है !

(क्षण-भर कोई कुछ नहीं बोलता। उसी समय विलासचन्द्र प्रवेश करता है।)

विलासचन्द्र—(सेवक से) जाओ। काम हो गया।

(सेवक का प्रस्थान)

विलासचन्द्र—गायक तो चला गया, कल्पना। मैंने बहुत चेष्टा की, लेकिन उसने कुछ सुना नहीं।

कल्पना—(विकृत मुद्रा से) अच्छा, तो गायक चला भी गया! तो तुम उसके पीछे क्यों नहीं हो गए ? (एकदम से मूर्छित होकर सोफ़े पर गिर पड़ती है।)

(विलासचन्द्र पुकार का स्विच दबाता है। सेवक के आने पर गुलाबजल मँगाकर कल्पना की आँखों के पलकों पर छोड़ता और उस पर हवा करता है।)

(यवनिका-पतन)

तृतीय अङ्क

प्रथम दृश्य

[नर्मदा नदी का तट ; पहाड़ी प्रान्त का एक भाग । प्राकृतिक दृश्यों की शूटिंग के लिए आये हुए सोशल-फ़िल्म्स लिमिटेड के अधिकारीवृन्द के कुछ तम्बू । कुछ दूर उत्तर की ओर एक पुराना वट-वृक्ष, जिसके तने से पीठ लगाये हुए बलराज चुपचाप बैठा हुआ पुण्य-सलिला नर्मदा के प्रवाह की ओर देख रहा है । एक शिला खण्ड पर लेटी हुई निद्रा सो रही है ।]

बलराज—उठो निद्रा, देखो, सूर्य भगवान् अस्त हो रहे हैं ।

निद्रा—(आँखें खोलकर अँगड़ाई लेती हुई) तुम यहाँ कब आ गए ? (उठ बैठती है ।)

बलराज—अभी थोड़ी देर हुई । आज नर्मदा के किनारे-किनारे बड़ी दूर तक चला गया था । लौटने पर जब तुमको कहीं न पाया, तो सोचा, तुम यहीं आ गई होगी । और, आने पर तुम यहाँ गंभीर निद्रा में विभोर मिलीं ।

निद्रा—(हँसती हुई) निद्रा को तुमने निद्रालीन पाया ।

बलराज—(गंभीरता से) तुम हँसती हो निद्रा ! लेकिन मुझे हँसना नहीं आता । मैं पागल हो जाना चाहता हूँ । ये ऊँचे-ऊँचे

शिखर, यह हरा-भरा वन्य प्रांत, मातेश्वरी नर्मदा का पावन प्रवाह, यह सुनील अम्बर और यह शीतल मन्द समीर, यह सान्ध्य अटन, यह विहार और विश्राम—कुछ भी मुझे फूटी आँखों नहीं सुहाते। सभी तो नाशवान हैं।

निद्रा—आखिर क्यों बलराज ? ऐसी क्या बात है ? (अधीर उत्सुकता)

बलराज—एक दिन तुम्हें अपने जीवन की सारी कथा बतला चुका हूँ तुम जानती हो, कल्पना को मैं प्रतिमास दो सौ रुपये भेजा करता था। अब तक तो कोई खास बात नहीं थी। लेकिन आज......

निद्रा—हाँ, आज क्या ?

बलराज—(भावातुर होकर) आज मेरा कलेजा फटा जा रहा है। सारे विश्व को मैं आज महाशून्य के रूप में देख रहा हूँ। अग्नि भी आज मुझे शीतल जान पड़ती है। यह सुहावना सायं-काल मुझे महाश्मशान-सा विकराल देख पड़ता है। चारों ओर से दुःख में डूबे नर-नारियों का भयानक चीत्कार-ही-चीत्कार मेरे कानों के परदों पर गर्जन कर रहा है। आँखों का प्रकाश धूमिल हो उठा है। जीवन का सारा दर्प जैसे खो गया है। अपना समस्त आन्तरिक अभिमान आज मुझे सर्प की फूत्कार जान पड़ता है। अहंकार मनुष्य को कितना क्षुद्र बना डालता है, मैं नहीं जानता था। जो पुरुष इस बात का दावा करता है कि मैंने नारी को जीत

लिया है, प्रतीत होता है, शृगाल के सिवाय वह और कुछ नहीं है।

निद्रा—लेकिन असली बात न कहकर तुम तो केवल उद्गार प्रकट रहे हो ! कुछ मालूम भी तो हो कि आखिर हुआ क्या, इस आकस्मिक भाव-विस्फोट का कारण क्या है।

बलराज—(गम्भीरता से) असल चीज़ दुनिया में कुछ है भी, जिसे मैं बतलाऊँ ? सभी कुछ तो काला है, मिथ्या है, निद्रा ! अगम रत्नाकर का जल खारा है ; चन्द्रमा कलंकहीन नहीं बन सका ; अमृत देवताओं ने हड़प लिया—मनुष्य को वह प्राप्य नहीं ; लक्ष्मी चंचला कहलाती है ; सरस्वती के उपासक भूखों मरते हैं ; वैभव आँखों की ज्योति ले डालता है ; निर्मम वीरता पैशाचिक वृत्ति है ; सत्य का मार्ग कंटकाकीर्ण होता है ; न्याय के पथ में खाइयाँ और खंदक मिलते हैं ; जीवन की सीमा मृत्यु के परे जा पहुँची है और स्वर्ग तो कल्पना की वस्तु हो गई है। अब तुम्हीं बतलाओ निद्रा, किस चीज़ को मैं तत्त्वमय देखूँ—किसको नहीं ?

निद्रा—कविता रहने दो, बलराज। साफ़-साफ़ बतलाओ तो मैं कुछ मदद भी करूँ।

बलराज—सरिताओं से कह दो, बहना छोड़ दें। निर्झरिणी से कह दो, अपना कल-कल संगीत त्याग दे। पवन से कह दो, स्थिर हो जाय। शिशु से कह दो, किलकारियाँ न ले। माता से कह दो, ममता त्याग दे। शून्य से कह दो, वह रिक्त न रहकर,

मूक न होकर, वाचाल बन जाय । पर्वत से कह दो, सागर के ऊपर बहने लगे। मनुष्य-मात्र से कह दो, कामना त्याग दे.... । मैं जो सीधी-सी बात कहता हूँ निद्रा, उसमें तुम कविता देखती हो। बतलाओ, मैं फिर कहूँ भी, तो क्या कहूँ ?

निद्रा—तुम मुझे पागल कर डालोगे। मैं पूछती हूँ—तुम अभी कह रहे थे—अब तक तो कोई खास बात न थी, किन्तु आज।...बस, इसके बाद जो बात बतलाते-बतलाते रुक गए, उसी को बतलाओ न !

बलराज—तुम अगर पगली बन जाओ निद्रा, तो मेरा बड़ा काम निकले, क्योंकि तब मुझे पागल बनने का ढँग तो मालूम हो जाय । मैं भी शायद बन सकूँ पागल। अपना सभी कुछ भूल जाऊँ—राग-द्वेष से रहित, बदला लेने-देने की भीम भावना से हीन होकर मानवी संसार की क्षुद्रता और पामरता पर लात तो मार सकूँ; महलों और अट्टालिकाओं को देखकर उनकी अस्थिरता पर हँस तो दूँ; वैभव की प्रतिहिंसापूर्ण दानवी वृत्तियों को देखकर उन पर थूक तो दूँ ; जीवन को महापतन की ओर ले जानेवाले विलास और उसके भोग के मार्ग को विकृत अट्टहास के प्रयोग-मात्र से धूमिल तो कर दूँ—भस्मसात् तो बना डालूँ !

निद्रा—(ऊँचे स्वर से) बलराज ! बको मत। शान्त होओ। (कुछ धीमे स्वर में) आघात मनुष्य को सहन करने ही पड़ते हैं। दुःखों से परे जीवन की कोई सत्ता नहीं है। धैर्य खो देने से आत्मा को शान्ति मिलना दुर्लभ हो जाता है। देखो, सन्ध्या जा

रही है। उसका वह रक्त से भरा अञ्चल नर्मदा की जल-धारा पर कैसा लहक रहा है ! फिर भी देखते हो, कहीं कोई परिवर्तन ? रजनी अपनी कुन्तल राशि को विश्व के ऊपर किस उत्साह के साथ बिखेर रही है ! प्रकाश को अन्धकार ने जैसे आत्मसात् कर लिया है। तो भी यह वन्य प्रकृति शान्त है। जानते हो क्यों ?

(बलराज चुप रहता है ।)

निद्रा—क्योंकि संसार में सुख-ही-सुख की कोई स्थिति नहीं है—सत्ता नहीं है। दुःख में ही मानवात्मा के सौख्य की अनुभूति होती है। उसी में उसकी परवर्ती अभिव्यक्ति है। दुःखों ने ही जीवन को स्थिर किया है, शान्त रक्खा है। आघात ही मनुष्य की अन्तर्दृष्टि को सजग बनाते हैं। भगवान् ने भी भिक्षा-वृत्ति धारणकर दरिद्रता के गौरव की रक्षा की है। प्रतिज्ञा तोड़कर उन्होंने भक्ति, प्रेम और साधना का महत्त्व स्थापित किया है। असत्य को अपने पावन कन्धों पर लादकर ग्लानि और लज्जा से पीड़ित अपनी आत्मा को उन्होंने तप्तांगार बना डाला है।

(बलराज की आँखें मुदने लगती हैं।)

निद्रा—मातेश्वरी सीता को त्यागकर भगवान् राम ने अपने हृदय में जो फफोले डाले, उनकी जलन से ही मानव-जीवन के दुःखों की सीमा स्थिर हुई है। भरी सभा में द्रौपदी का अपमान होने पर भुवनमोहन भगवान् कृष्ण ने आँखें

फाड़-फाड़कर जिस महानाश का ताण्डव नृत्य देखा, उससे मानवता की ही मर्यादा स्थापित हुई है। संसार को ज़रा आँख खोलकर देखना होगा, बलराज !

(थोड़ी देर तक सन्नाटा छा जाता है। तदनन्तर बलराज जेब से एक काग़ज़ निकालकर निद्रा के हाथ पर रख देता है। किन्तु अन्धकार अधिक हो जाने के कारण निद्रा उसे पढ़ नहीं पाती और लौटा देती है।)

निद्रा—क्या लिखा है इसमें ?

बलराज—कल्पना का पता नहीं है। बीमा वापस आया है।

निद्रा—तो इसमें चिन्ता की क्या बात हो सकती है ? विलास को तार देकर पूछो, मामला क्या है।

(बलराज कोई उत्तर न देकर एक निःश्वास लेता है।)

निद्रा—(उठती हुई) चलो, अब चलें। (नेपथ्य से आता हुआ वाद्य-स्वर सुनकर) अच्छा, सुनो। (एक वृक्ष के तने के पास खड़ी होकर गाती है। बलराज मर्माहत हो उठता है।)

(गायन)

बहती जा करुणाधारा।

शिखरों के उर को छेद-छेद,
पाषाणों को कर दे रजकण।
अम्बर-चुम्बित श्रेणियाँ आज,
भूलुण्ठितकर करदे मसृण ॥

फटने दे युगल कगारा।
बहती जा करुणाधारा॥

तरिणी के फूटें रन्ध्र-रन्ध्र,
उत्ताल तरंगों के प्रहार।
झंझा की सीमाएँ सहर्ष,
दुर्द्धर्ष, मिटा लें साध चार॥

पा जाऊँ अतल-किनारा।
बहती जा करुणाधारा॥

(पट-परिवर्तन)

द्वितीय दृश्य

[विलासचन्द्र के बँगले का एक कक्ष । शीतलपाटी बिछी है । पास ही अँगीठी धधक रही है । ऊपर, बीचोंबीच, इलैक्ट्रिक बल्ब जल रहा है । कल्पना और विलासचन्द्र पास-ही-पास बैठे हुए खाना खा रहे हैं । कल्पना के पास बिल्ला बैठा हुआ है । दासी क्रम-क्रम से ताज़ी गरम रोटियाँ ला रही है ।]

कल्पना—अच्छा, विलास !

(विलास उसकी ओर देखता है ।)

कल्पना—मैंने एक बात तुमसे कभी नहीं पूछी ।

विलासचन्द्र—(उत्सुकता से) आज पूछ लो । (इकटक देखता है । रोटी के कौर पर हाथ रक्खा रहता है ।)

कल्पना—मनुष्य के दुस्साहस का अन्त कहाँ है ? (उस दिन का स्मरण करती है, जब विलास ने उसे मदिरा पिलाई थी ।)

विलासचन्द्र—(कुछ सोचता है ।) मैंने कभी इस विषय पर विचार नहीं किया ।

कल्पना—तुम मुझसे कुछ छिपा रहे हो ।

विलासचन्द्र—(मुसकराता है ।) कैसे जाना ?

कल्पना—तुम्हारी मुद्रा बतलाती है ।

विलासचन्द्र—मैं भी कुछ पूछ सकता हूँ, कल्पना ?

कल्पना—पूछो। मैं तो तुमसे कुछ छिपाती नहीं।

विलासचन्द्र—मनुष्य अपने को धोखा क्यों देता है? दूसरों को धोखा देना तो कुछ समझ में भी आता है। पर अपने आपको धोखा देना……

कल्पना—कभी-कभी ऐसा होता है, विलास! प्रायः उस समय, जब वह अपने आगे का पथ देख नहीं पाता, अपने आपको भी समझने में ग़लती करता है।

विलासचन्द्र—मैं ग़लती करना नहीं जानता।

कल्पना—(हँसती है।) कोरा दम्भ है।

विलासचन्द्र—दम्भ नहीं कल्पना, मैं सच कहता हूँ।

कल्पना—भ्रम है।

विलासचन्द्र—मैंने तुमको समझने में कभी ग़लती नहीं की।

कल्पना—यह भी तुम्हारा भ्रम है। मनुष्य कभी ग़लतियों से परे नहीं हो सका। (बिल्ले के ऊपर हाथ रखती है।) बोलो न, मेरे आलोचक? (फिर उसे गोद में लेकर छाती से चिपटा लेती है। बिल्ला बोलता है—म्याऊँ!)

विलासचन्द्र—जिस दिन मैंने तुम्हारे घर में प्रवेश किया, उसी दिन मुझे पता लग गया था। (कुछ मुसकराता है।)

कल्पना—किस बात का?

विलासचन्द्र—(कल्पना की आँखों में लीन होकर) यही कि तुम अपने वर्तमान जीवन से असन्तुष्ट हो।

कल्पना—इसीलिए तुमने तत्काल चारा फेंकना शुरू कर

दिया। (उग्ररूप धारण कर थाली आगे से खिसका देती है ।)

विलासचन्द्र—तुम मेरा अपमान कर रही हो । (आँखें चढ़ाकर)

कल्पना—(उत्तेजना में) धूर्त, पाजी, मक्कार, लुच्चे-नीच कहीं के! तेरा मान ही कितना है, जो मैं तेरा अपमान करूँगी! उस दिन तेरा यह मान कहाँ गया था, जब मैंने अपनी ओर बढ़ते ही तेरी छाती पर लात जमा दी थी! तू ही मेरे यहाँ उस वेश्या को ले आया था, जो मुझे यह विश्वास दिलाकर बम्बई गई थी कि मैं उन्हें तुरन्त भेज दूँगी। तेरे ही संकेत पर उसने उन्हें वहाँ रोक रक्खा है।

विलासचन्द्र—(अभिभूत हो जाता है) तुम मेरे साथ ऐसा अन्याय करोगी कल्पना, मैंने कभी सोचा नहीं था। माँ से अधिक प्यारी वस्तु संसार में दूसरी नहीं। मैं उनकी शपथ खाकर कहता हूँ कि कामना पर मेरा कोई वश नहीं। एक जमाना था, जब वह मेरी थी। किन्तु अब तो वह आकाश-कुसुम हो रही है। मैंने उसे कितने ही पत्र लिखे, किन्तु उसने एक का भी उत्तर नहीं दिया। मैं क्या करूँ; मेरा उस पर कोई वश नहीं है।

कल्पना—अगर तुम्हारे मन में कपट नहीं है तो तुम मुझे बम्बई क्यों नहीं ले चलते? क्यों तुमने मुझे इतने दिन से यहाँ नजरबन्द कर रखा है? मैं कहीं चिट्ठी तक नहीं डाल सकती, कहीं आ जा तक नहीं सकती। इसका क्या मतलब है?

विलासचन्द्र—(थोड़ी देर चुप रहकर) कल्पना तुम जानती हो, मैं........

कल्पना—(फिर उत्तेजित होकर उठना चाहती है।) अरे दुष्ट, पापात्मा, तेरा सत्यानाश क्यों नहीं हो जाता ! (दाँत पीसती और फिर वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ती है।)

(विलासचन्द्र कल्पना को उठाकर पलंग पर लिटा देता है।)

विलासचन्द्र—(उसके मुख को देखता हुआ) क्या वास्तव में मैं नीच हूँ, कल्पना ! (सिर के केशों पर हाथ फेरता और कमरे के दरवाज़े की ओर सतर्कता से देखता है।) आह ! (निःश्वास लेता है।)...तुम कैसे जानोगी कल्पना कि मैं तुमको कितना चाहता हूँ ! (पुकार का स्विच दबाता है।)

(दासी का प्रवेश)

दासी—सरकार !

विलासचन्द्र—नम्बर पाँच के कमरे में टेबिल पर एक शीशी रक्खी है। उसे ले आओ।

(दासी का प्रस्थान)

(कल्पना अँगड़ाई लेकर हाथ पटकती है।)

विलासचन्द्र—(उसके हाथ की रंगीन चूड़ियाँ देखकर) ये चूड़ियाँ भी कितना सौभाग्य रखती हैं ! सखी, काश कि तुम मेरी हो सकतीं। (वक्ष पर चमकते उसके हार को छूकर उठाता हुआ) आह ! तुम भी कितने सौभाग्यशाली हो सखे ! (दासी के आने पर कल्पना का सिर उठाकर) दवा पी लो। (मुह खोलता

है, पर उसके दांत जमे पाकर निराश होकर शीशी फिर दासी के हाथ में दे देता है।) अच्छी बात है, तो फिर अच्छी तरह सो ही लो। (दासी से) खड़ी क्यों है?

(दासी का प्रस्थान)

(बिल्ले को पूँछ हिलाते हुए देखकर) क्या सचमुच मैं वैसा ही नीच हूँ, जैसा कल्पना समझती है? (गोद में उठा लेता है) बोल?

बिल्ला—म्याऊँ! (आँखों के पलक खोलता मूँदता है।)

विलासचन्द्र—मैंने ही एक सद्‌गृहस्थ के घर में आग लगाई है! (गर्दन के मुलायम केश सुहलाता है।) क्यों?

बिल्ला—म्याऊँ! (गोद से छूटना चाहता है।)

(विलासचन्द्र पुकार का स्विच दबाता है।)

(दासी का प्रवेश)

दासी—सरकार!

विलासचन्द्र—दुर्गा को भेजना।

(दासी का प्रस्थान और दुर्गा का प्रवेश)

दुर्गा—सरकार!

विलासचन्द्र—(बिल्ले को छोड़ देता है।) डाक्टर अवस्थी को तो बुला ला। कहना, तुरन्त आने की कृपा करें। (कल्पना के निकट कुरसी पर बैठ जाता है। कल्पना करवट बदलती है। उसके वक्ष पर से साड़ी हट जाती है। उसे ढक देता है। फिर कुरसी से उठकर

इधर-से उधर कमरे में टहलता है। फिर कुछ सोचकर पुकार का स्विच दबाता है।)

(दासी का प्रवेश)

दासी—सरकार !

विलासचन्द्र—तार का फ़ार्म और कलम ले आओ।

(फिर कल्पना के निकट जाता है।)

(दासी का प्रस्थान)

कल्पना—रक्षा-रक्षा···नाथ !

विलासचन्द्र—(ज्योतित होकर) बहिन ! मैं ही तुम्हारी रक्षा भी करूँगा। आँखें खोलो ! (सिर पर हाथ रखकर मुंह की ओर इकटक देखता है।)

कल्पना—(क्षीण और अस्फुट स्वर में) मैं पतित···! नहीं, असम्भव ! मैं कल्पना····

विलासचन्द्र—मातेश्वरी उमा की भाँति तुम सती हो बहिन ! कोई पापात्मा तुम्हारा अञ्चल भी नहीं छू सकता। (दूर हटकर रुद्र गम्भीर हो जाता है।)

(दासी का प्रवेश)

(विलासचन्द्र तार लिखकर उसे देता है।)

(पट-परिवर्तन)

तृतीय दृश्य

[निद्रा का एक आवास । समय प्रातःकाल । नवीन खड़ा-खड़ा चित्र देख रहा है । निद्रा कुरसी पर बैठी हुई पत्र लिख रही है । सामने टंगी हुई घड़ी नौ बजा रही है । नवीन चित्र देखकर दूर की कुरसी उठाकर निद्रा के निकट रखकर बैठ जाता है । कल्पना ब्लाटिंग से पत्र की स्याही सोखती और उसे लिफ़ाफे में बन्द करती है ।]

नवीन—कहाँ को पत्र लिखा है निद्रा ?

निद्रा—(भौंहे फैलाकर) अपने यार को ! आपको तो कुछ नहीं लिखना है ? अभी गुंजायश है । (कुटिल हास)

नवीन—(गम्भीर होकर) मेरा अपमान कर रही हो निद्रा !

निद्रा—महा पाखण्डी और नीच पुरुषों को भी मानापमान का बड़ा ख़याल रहता है ! (विवर्ण हो उठती है ।)

नवीन—दुनिया कहे तो कहे, पर तुम तो मुझको ऐसा न समझो । बलराज ने कम्पनी के पचास आदमियों के समक्ष यह स्वीकार किया है कि नवीन पर मेरा सन्देह नहीं है । उसका इस घटना के मूल में कोई हाथ नहीं है । संयोग से ही मेरा पैर टूट गया है ।

निद्रा—तुम एक नम्बर के धूर्त हो, नवीन ! (उत्तेजित होकर) मेरा वश चलता तो मैं तुमको कम्पनी से कान पकड़

कर बाहर निकलवा देती। तुमने कलाकार के गौरव की हत्या की है। व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष और वैर-विरोध को तुम कला के क्षेत्र में लाकर अपने कुटिल हृदय की अग्नि शांत करने की चेष्टा करते हो। कम-से-कम तुमको यह तो सोचना चाहिए था कि कला मानवात्मा के स्तर-स्तर में वास करनेवाली हमारे लिए पूजा और उपासना की वस्तु है। उसके पवित्र आँगन को तुम ईर्ष्या-द्वेष के कीचड़ से गंदा करते हो! तुम्हारे लिए यह शर्म की बात है नवीन!

नवीन—तुमको भ्रम हो गया है। मैं चाहता हूँ, तुम्हारा यह भ्रम दूर हो जाय। दृश्य लाठीचार्ज का लिया जा रहा था। मैं बहुत सम्हल-सम्हलकर वार कर रहा था, किन्तु बलराज आप-ही-आप, मालूम नहीं क्यों, एक अजीब तरह से आड़ा-तिरछा होकर इस तरह आगे पड़ गया कि मेरी लाठी का पूरा आघात उसकी गाँठ पर जा पड़ा। तुम खुद बलराज से पूछ लो!

निद्रा—अब मुझसे बनो मत नवीन! डाक्टर का कहना है—गाँठ का कुछ बिगड़ा नहीं है, वह ठीक हो जायगी। पर सच बात तो यह है कि तुमने बलराज की भावुकता से ही अपनी निर्दोषिता प्रमाणित की है।

नवीन—ऐसी बात नहीं है। मैं वास्तव में निर्दोष हूँ।

निद्रा—एक दिन था जब तुम मेरे सम्बन्ध में भी यही बात कहते थे।

नवीन—तुम्हारे सम्बन्ध की कौनसी बात? मैं समझा नहीं।

निद्रा—बलराज के साथ हिरोइन का पार्ट जब मुझे मिल रहा था, तब तुम्हारे ही विरोध के कारण मेरी यह अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकी।

नवीन—(सिर नीचा कर लेता है।) मुझे खेद है, तुमने मुझे··· मेरा मतलब यह है कि इसका अधिकारी तो मैं था।

निद्रा—फिर कहाँ चला गया तुम्हारा वह अधिकार ?

नवीन—दुर्भाग्य ने अपने पैरों के नीचे दबा रक्खा है।

नवीन—कुटिलता से ही उसे उससे मुक्ति दिलाने की आशा करते हो !

नवीन—क्षमा चाहता हूँ।

निद्रा—क्षमा अंतःकरण से माँगी जाती है। केवल जिह्वा हिला देने से काम नहीं चलता।

(नवीन चुप रह जाता है।)

निद्रा—जाओ, देखो, बलराज कैसे हैं। अगर सो रहे हों तो लौट आना, अन्यथा यह पत्र दे देना। बहुत जरूरी पत्र है। उनकी स्त्री कल्पना सख्त बीमार है। लेकिन यह बात उनसे कहनी नहीं होगी। डाक्टर ने मना कर दिया है। मैं एक आवश्यक काम से अन्यत्र जा रही हूँ। मुझे अभी नहाना और कपड़े बदलना है।

नवीन—निद्रा, क्या मैं जान सकता हूँ तुम कहाँ जा रही हो ?

निद्रा—जहन्नुम में जा रही हूँ। तुम भी चलोगे ? (त्योरी बदलती है।)

नवीन—तैयार हूँ निद्रा। तुम साथ में रहो, तो नरक भी मेरे लिए स्वर्ग होगा !

निद्रा—(मुसकराती है।) रँगे सियार कहीं के !

नवीन—स्वीकार करता हूँ। (सिर नीचा कर लेता है।)

निद्रा—दुष्ट और दुरात्मा हो।

नवीन—कैसे इनकार करूँ ?

निद्रा—कपटी मुनि हो।

नवीन—हूँ। (लज्जित होता है।)

निद्रा—आज तुममें यह जो नया परिवर्तन देख रही हूँ, इसका कारण, नवीन ?

नवीन—इसका कारण मुझी से पूछ रही हो निद्रा ! (आँखों में आँसू भरकर) अच्छा होता, न पूछतीं। लेकिन ख़ैर, मैंने भी अब तक जीवन के विगत दस-पन्द्रह वर्ष केवल ऊँच-नीच, भला-बुरा, त्याग और ग्राह्य, सत्य और असत्य के समझने में ही बिताये हैं। मैंने हत्याएँ की हैं, डाके डाले हैं और मैं जेल में रहा हूँ। मैंने अपनी उन्नति के लिए लोगों को धोखा भी दिया है।

निद्रा—(विस्मय से) बड़े भयानक हो !

नवीन—डरती हो ? किन्तु डरने की कोई बात नहीं है। किन-किन अवस्थाओं से गुजर चुका हूँ, केवल यह बतला रहा हूँ।... हाँ तो मैंने अपने आत्मीय जनों से भी कपट रक्खा है। इस-

लिए नहीं कि कपट करना मेरी प्रकृति है, वरन् इसलिए कि मैं यह देखना चाहता था कि उसका मेरे विकास पर प्रभाव क्या पड़ता है। मैंने विश्वासघात किया, लोगों के साथ—इसलिए नहीं कि उससे स्वार्थ-साधन करना मेरा अभीष्ट था, वरन् इसलिए कि मैं देखना चाहता था कि उससे मेरे निर्माण में विपर्यय क्या उपस्थित होते हैं।

निद्रा—बहुत अच्छा निर्माण किया तुमने अपने जीवन का !

नवीन—वही बतला रहा हूँ।···हाँ, तो प्रत्येक वस्तुस्थिति को मैंने अपने इन्हीं हाथों से तौल-तौल कर देखा है। मैंने अनुभव करके जीवन को पाया है। आँखों के समक्ष जो कुछ भी स्पष्ट देख पड़ता है, और जो हृदय के भीतर बोलता है, मैं उसी पर विश्वास करता हूँ।

निद्रा—बड़े अच्छे हो !

नवीन—(अविराम गति से) मैंने देखा, समझा, सोचा और अनुभव किया है कि नारी की शक्ति असीम है। जीवन के उस पार जहाँ मृत्यु का हाहाकार है, काल-रात्रि के दूसरे प्रहर में, जहाँ महानाश ताण्डव-नर्तन करता है, मनुष्य के नर-कंकाल जहाँ उठ-उठकर अपना भैरव-राग गाते हैं, नारी की ही मोहन-माया वहाँ कामना के निःश्वास का रूप धारण कर प्रकट होती है। मनुष्य को पशु बनाने वाली एक नारी ही है निद्रा।

निद्रा—(विवर्ण होकर) ऐसी बात कहते हुए तुम्हें शर्म आनी चाहिए।

नवीन—(उसी प्रकार उग्र रहकर) मुझे कहने दो निद्रा, शर्म तुमको आनी चाहिए थी। मेरे पास विलासचन्द्र का पत्र आया है। मेरी जेब में वह इस समय मौजूद है। मैं जानता हूँ, तुम्हारा असली रूप निद्रा नहीं, कामना है। तुमने एक नारी के साथ छल किया है और बलराज जैसे वीरात्मा के साथ वंचना।

(निद्रा अप्रतिभ हो जाती है; आँखों की सारी मादकता, मुख का सारा लावण्य धूमिल पड़ जाता है। यकायक एक सन्नाटा-सा छा जाता है। निद्रा वहीं बैठी रहकर पुकार का स्विच दबाती है।)

(सेविका का प्रवेश)

निद्रा—ए बॉटल आफ़ जानीवाकर, विद कम्पनी वेट्रेस। (सेविका का प्रस्थान)

नवीन—तुम्हें दुःख पहुँचाना मेरा अभीष्ट नहीं है निद्रा, मैं तो वास्तव में दूसरी ही बात कह रहा था। मैं कहने जा रहा था कि नारी ही में वह शक्ति और क्षमता है कि मेरे जैसा पशु भी मनुष्य बन सकता है!

निद्रा—तुम मुझे लज्जित कर रहे हो।

नवीन—लज्जित होने का कोई कारण नहीं है निद्रा। नारी पुरुष की प्रेरणा है, साधना है, अन्तरात्मा की ज्योति है। उसे न पाकर या खोकर पुरुष एक ओर जहाँ पागल बन जाता है, वहाँ दूसरी ओर वह उठता भी है—उसे जागरण भी मिलता है।

(बोतल, शीशे के गिलास और लेमनेड की बोतलें लिये हुए दो सेविकाओं का प्रवेश)

निद्रा—तुम मुझे पागल कर डालोगे! (चिट्ठी फाड़ती है ।)

(सेविका दो गिलासों में वारुणी डालती है ।)

नवीन—मर्यादाहीन कामना स्वतः प्रमाद की एक स्थिति है। उसे पागल कौन कर सकता है?

(दोनों के हाथों में रंगीन गिलास पहुँचते हैं। दोनों उत्तरंग हो उठते हैं ।)

निद्रा—(दो घूँट पीकर) सचमुच तुम विजयी हो। मैं नहीं जानती थी, तुम एक दिन मुझे विवश ही कर दोगे। मैं कभी यह सोच ही न सकती थी कि तुम्हारे आगे मुझे पराजित होना पड़ेगा।

नवीन—(निद्रा की आँख बचाकर वारुणी एक ओर गिरा देता है।) मैं तुम्हारे साथ आज पहली बार इसे स्वीकार कर रहा हूँ। लेकिन भविष्य में फिर कभी ऐसा प्रस्ताव न करना, निद्रा! मैं पीछे जाना नहीं चाहता।

निद्रा—मैं तुम्हारा तात्पर्य नहीं समझी। (गिलास खाली करती है ।)

नवीन—बात यह है निद्रा, कि मैं प्रगतिवादी हूँ। बढ़ते ही जाना मेरा लक्ष्य है। बलराज मेरा हृदय है, मैं उसके साथ छल नहीं करना चाहता।

निद्रा—ओह डियर! मैं इस समय···फ़िलॉसफ़ी नहीं चाहती। मैं तो···केवल एक···विस्मृति चाहती हूँ···आत्म-विस्मृति!

नवीन—तुम्हारा यही रूप मेरे लिए वारुणी है।

(निद्रा हा-हा हा-हा करती हुई अट्टहास करती है ।)

निद्रा—अच्छा, तो मैं खुद वारुणी हूँ ! मैं ख़ुद ! मैं ख़ुद ! इस समय तुम मुझे बहुत प्यारे लगते हो नवीन !

(नवीन की ओर झुकती हुई एक ओर गिर पड़ती है । नवीन उसे उठाकर सोफ़े पर लिटाने की चेष्टा करता है ।)

(पट-परिवर्तन)

चतुर्थ दृश्य

[प्रेमनगर में बलराज का बँगला। भीतर बरामदे में शीतलपाटी पर बैठी हुई कल्पना बिल्ले को दूध पिला रही है। साड़ी के ऊपर वह अपना मुलायम कोट पहने हुए है। उसके कानों में सोने के झूमर पड़े हैं। बाएँ हाथ की अनामिका में नीलम के नग की अँगूठी है। विलासचन्द्र दरवाज़े के पास खड़ा-खड़ा बिल्ले का थोड़ा-सा दूध पीकर मुह उठा लेना, इधर-उधर देखना और फिर पीने लग जाना देख रहा है। मुन्ना बिल्ले के पीछे बैठा है। उसके हाथ उसकी पीठ और गर्दन पर हैं—उसके मुलायम बालों को छूते हुए।

बिल्ले को दूध पिलाकर कल्पना अपनी बैठक में आकर शाल से शरीर ढकती हुई सोफ़े पर लेट रहती है। विलासचन्द्र एक कौच छोड़कर दूसरी पर बैठता है। बिल्ला कल्पना के पैरों के पास आकर शाल के भीतर दुबक रहता है।

दोपहर हो गई है। बेमौसम पानी बरस जाने के बाद हवा चल रही है; इस कारण आज सरदी औसत से कुछ अधिक है।]

विलासचन्द्र—इस हफ़्ते का चार्ट डाक्टर साहब काफ़ी सन्तोषजनक बतलाते हैं। अब तुम अमर हो। मास्टर साहब के आने में अगर दो सप्ताह भी लग गए तो जिस हालत

में वे तुम्हें छोड़ गए थे, उसी हालत में पा भी सकोगे। (मुसकराता है।)

कल्पना—(गम्भीरता से) क्या जाने कब आयेंगे ! केवल पत्र पाकर मैं कैसे विश्वास करूँ कि जल्दी आ जायँगे।

विलासचन्द्र—अगर तुम्हारी तबियत रेल-यात्रा के कष्ट और उसके परिवर्तन सहन कर सकने योग्य होती, तो तुम्हें मेरी बात की सत्यता का पता चल जाता।

कल्पना—तबियत तो मेरी इस योग्य है कि मैं जा सकती हूँ। किन्तु केवल सिद्धान्त का विचार करके मैं नहीं जाऊँगी। मुझे मर जाना स्वीकार है। (उन्मन हो उठती है।)

विलासचन्द्र—फिर तुम बहकने लगी, कल्पना ! कितनी बार कह चुका हूँ, यह रास्ता ग़लत है। जीवन के आगे मृत्यु को महत्त्व देना मनुष्य के लिए कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

कल्पना—जीवन को मैं इस क़दर संकुचित नहीं मानती।

विलासचन्द्र—यह एक नवीन विचार है। कार्य-रूप में इसे इतनी जल्दी परिणत करने का अर्थ है आत्म-हिंसा। आगे फिर कभी इस तरह की बात मैं तुमसे सुनना नहीं चाहता। मास्टर साहब एक पौरुष और पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। वे केवल आदर्श पर चलते हैं। उन्होंने देखा, तुम्हारी मनोवृत्तियाँ मुक्त हो रही हैं, तुम्हारी कामनाओं की सीमा नहीं है। उन्होंने समझा और ठीक समझा कि तुम पुरुष के आध्यात्मिक सम्पर्क के महत्त्व को

स्वीकार नहीं करतीं। इसलिए उन्होंने एक करवट ले ली। इसमें मैं उन्हें दोषी नहीं समझता। आज मैं तुमसे साफ़ तौर से यह कह देना चाहता हूँ कि कोई भी स्वाभिमानी पुरुष ऐसी स्थिति में वही करता, जो उन्होंने किया है। मैं उनकी महानता का क़ायल हूँ।

कल्पना—और इसी महानता के कारण उन्होंने मुझे डेढ़ वर्ष तक पत्र लिखना स्वीकार नहीं किया ? (उठ बैठती है।)

विलासचन्द्र—ओह कल्पना, यह तुम कहने क्या लगीं! वे बराबर तुम्हें पत्र लिखते रहे हैं। मैंने ही द्वेष-वश उन पत्रों को तुम्हारे पास नहीं फटकने दिया। यह अपराध तो मेरा है। आत्म-ग्लानि के मारे तुम्हारे समक्ष सिर उठाने की भी मेरी जो हिम्मत नहीं पड़ती, उसका कारण मेरा यह कलुषित स्वरूप ही तो है। फिर मैंने अपनी इन आँखों से देख लिया, अपने थोड़े-से ज्ञान और अनुभव से यह समझ पाया, कि तुमको मैं प्राप्त तो कर सकूँगा नहीं, हाँ, खो ज़रूर दूँगा। सम्भव था मैं तुम्हें खो भी देता और उसके पश्चात् यह तो असम्भव था कि मैं अपने आपको भी न खो देता। किन्तु मैंने देखा, बलराज पुरुषत्त्व की एक आन है, उसका जीवन विलास के जीवन की अपेक्षा सहस्र-गुना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतएव उसकी रक्षा मुझे करनी ही चाहिए। तब मैंने अनुभव किया, सचमुच मेरे कलुष की सीमा नहीं है, थाह नहीं है।

कल्पना—इस समय भी तुम मुझसे छल कर रहे हो।

अच्छा मेरी देह पर हाथ रखकर शपथ लो कि उनके पत्र तुम्हींने मुझे नहीं मिलने दिये।

विलासचन्द्र—मैं शपथ न लूँगा। मैं तुम्हारा स्पर्श भी न करूँगा। मैं साक्षात् कलुष हूँ। मेरे स्पर्श से तुम्हारी देह-लता कुम्हला जायगी। तुम छुई-मुई हो कल्पना! मेरी बात पर विश्वास करो। मैं इस समय प्रायश्चित्त की स्थिति में हूँ। जब तक भस्मीभूत न हो जाऊँगा, मुझे शान्ति न मिलेगी।

कल्पना—वे पत्र हैं कहाँ? लाओ, दिखलाओ न!

विलासचन्द्र—उन पत्रों को, जिनमें तुम्हारे लिए उन्होंने पुरुष-हृदय का सारा अमृत उँड़ेल दिया था, द्वेष के कारण मैं अग्नि से धधकती अँगीठी को समर्पित कर देता था।

कल्पना—(विस्मय से) तुम सच कह रहे हो?

विलासचन्द्र—अन्तर्यामी ही जानते हैं, और अधिक मैं क्या कहूँ! यदि मैं इस समय कोई भी बात असत्य कहता होऊँ, तो वे मुझे कभी क्षमा न करें!

कल्पना—आज मेरे सामने से अन्धकार का परदा हट गया। मैं आज खुशी से पागल हो जाना चाहती हूँ। मुझे ऐसा जान पड़ता है विलास, जैसे वे चल पड़े हैं। मेरी बाईं आँख का पलक उछल रहा है, बाएँ स्कन्ध के ऊपर भी ऐसा ही कुछ संकेत हो रहा है। मुझे विश्वास हो रहा है, वे आ रहे हैं। किन्तु तुम उदास कैसे दीख पड़ते हो विलास! इधर देखो तो।

विलासचन्द्र—(कृत्रिम हास से) नहीं तो। मुझे दुःख क्यों

होगा ? इससे बढ़कर सुख मेरे लिए दूसरा नहीं हो सकता।
(उठकर कमरे के बाहर जाता और रूमाल से आँसू पोंछता है ।)

कल्पना—इधर मेरे पास आकर बैठो विलास ! तुम मुझसे दूर क्यों भागते हो ? मैं तो तुम्हारी बहन हूँ। पचासों, नहीं, सहस्रों बार तुमने मुझे बहन कहके पुकारा है। तुम आज मुझे बहन मानते भी हो। फिर यह संकोच कैसा ? आओ, इधर बैठकर मुझसे बात करो।

(विलासचन्द्र निकट के कौच पर बैठता है । उसकी आँखे अब भी लाल हैं, कण्ठ अब भी साफ़ नहीं है ।)

कल्पना—कभी मैंने तुमसे कहा था, मनुष्य के साहस का अन्त नहीं है, चाहे वह भला हो, चाहे बुरा। किन्तु अब मैं तुमसे कहती हूँ, मनुष्य के हृदय की थाह नहीं है; कितना गहन है वह, कहाँ उसका अन्तिम स्तर है, कोई नहीं जानता। मैं स्वतः अपनी बात कहती हूँ। मैं पागल हो गई थी; जानते हो, क्यों ? (विलासचन्द्र चुप रहता है ।)

कल्पना—मैं सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं को देखकर उनको प्राप्त करने के लिए तरस रही थी। मैं सोचती रहती थी, क्या ऐसा भी कोई दिन होगा, जब मैं इन सब प्यारी वस्तुओं का उपभोग करूँगी। किन्तु मैंने अनुभव किया, उनके बिना इन वस्तुओं की प्राप्ति का कोई महत्त्व नहीं है। नितान्त क्षुद्र हैं ये। विलासचन्द्र, मुझे निरपराध समझते हो ?

(टप-टप आँसू गिरते हैं।)

विलासचन्द्र—रोओ मत कल्पना ! (द्रवित हो जाता है।) रोने से तुम्हारी तबियत फिर खराब हो जायगी। (निकट आकर अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछता है ।)

(इसी क्षण बिल्ला पूँछ हिलाता हुआ सोफे पर आकर बैठने की चेष्टा करता है । कल्पना उसे गोद में ले लेती है ।)

कल्पना—(बिल्ले के सिर को छाती से चिपकाती हुई) तू भी मुझे सांत्वना देने चला आया, प्रोफेसर !

विलासचन्द्र—(सम्बोधन सुनकर विस्मित होता है ।) अच्छा तो आप प्रोफेसर भी हैं !

(सन्नाटा-सा छा जाता है ।)

कल्पना—उनके साथ एक-आध बार कालेज गया था। कुरसी से उतरकर जब वे ब्लैक-बोर्ड पर कुछ समझाने लगे तो झट से मौक़ा पाकर आप उसी कुर्सी पर विराजमान हो गए। बाद में जब वे कुरसी पर बैठ गए, तो आप ब्लैक-बोर्ड के ऊपर जा पहुँचे। (बिल्ले की आँखों के ऊपर उसके भाल को चूमती हुई) क्यों रे ?

(बिल्ला बोल उठता है—म्याऊँ ; और ऐसा जान पड़ता है, जैसे हंस रहा हो । कल्पना फिर उसे छाती से चिपका लेती है । विलासचन्द्र कल्पना की छवि पर मुग्ध होकर निःश्वास लेता है ।)

(पट-परिवर्तन)

पंचम दृश्य

[प्रभात-काल । वैकुण्ठ के फाटक से कुछ आगे, इमली के पेड़ के नीचे, जगेसर, चम्पी और सूरे । सूरे खजड़ी बजाकर गा रहा है । उसे घेरे हुए कुछ लोग खड़े हैं । गंगा-स्नानार्थी लोग इक्के, ताँगे और कार लेकर जा रहे हैं । पूर्वी फुटपाथ पर स्त्रियों के झुण्ड-के-झुण्ड पैदल जाते देख पड़ते हैं ।

सूरे को घेरकर जो लोग खड़े हैं, उनमें अनेक वृद्ध-जन हैं । किसी के दाँत नहीं हैं, ठुड्ढी ऊपर को मुड़ी हुई जान पड़ती है ; बाल सब सफ़ेद हो गए हैं । किसी की कमर लच गई है । कोई अफ़ीमची है । उसकी आँखे गड्ढों में धँस गई हैं । बदन सूखकर लकड़ी हो गया है । वर्ण काला पड़ गया है । कोई गीली धोती बग़ल में दबाये हाथ में भरी गंगाजली लिये खड़ा है ।]

(गायन)

जागो भाई जागो, रात रही थोरी ।
काल चोर नहिं, करन चहत है, जीवन-धन की चोरी ।
औसर चूके पुनि पछितैहो हाथ मींजि सिर फोरी ।।
काम करो नहिं काम न ऐहैं बातें कोरी-कोरी ।
जो कछु बीती बीत चुकी सो चिन्ता तें मुख मोरी ।
आगे जामें बने सो कीजै करि तन-तन इकठोरी ।

कोऊ काहू को नहिं साथी मात, पिता, सुत, गोरी।
अपने करम आपने संगी और भावना भोरी।
सत्य सहायक स्वामि सुखद से लेहु प्रीति जियजोरी।
नाहिंतु फिर परताप हरी कोऊ बात न पूछहि तोरी।

(गायन समाप्त हो जाने पर सूरे अपनी जगह पर ही बैठा रहता है। चम्पी और जगेसर इधर-उधर घूम-फिरकर भिक्षा माँगते हैं। कुछ लोग पैसा देते हैं। भीड़ छटती है। धीरे-धीरे केवल एक आदमी रह जाता है।)

जगेसर—(उस आदमी का सूखा शरीर देखकर) तुम कैसे बैठे हो भाई ?

अफ़ीमची—(नाक के स्वर में) ऐसे ही बैठा हूँ। चला जाऊँगा अभी।

सूरे—बैठो। जी चाहे तब तक बैठो। अपना दुःख-सुख ही कह डालो कुछ।....चम्पी, कहाँ गई री ?

चम्पी—यहीं हूँ सूरे भाई, इन भाई साहब की सकल देख रही हूँ। उमिर तो ऐसी कुछ ज्यादा नहीं तुम्हारी जान पड़ती, लेकिन पेट पीठ से जा मिला, आँखें गड्ढों में जा पहुँचीं। तुमको कहीं देखा भी है सायद। कहाँ रहते हो ?

अफ़ीमची—क्या बताऊँ, कहाँ रहता हूँ ! (निःश्वास लेता है।)

जगेसर—कुछ पैसा-धेला पास है कि नहीं ? या हमारे पास बैठकर कुछ ज्ञान ही लेने आये हो ! इसके लिए इस मंडली

में सूरे एक नम्बर के बिद्वान हैं। संसकीरत पढ़े हैं। फारसी भी जानते हैं। अभी जो भजन गाया था, सुना था ?

अफ़ीमची—सुना था।

जगेसर—तो पैसा-धेला कुछ भाव-भगती में नहीं चढ़ाया ?

अफ़ीमची—पैसा मेरे पास नहीं है। पैसे ही होते तो मैं···

चम्पी—ब्याह कर लेता। क्यों ? (हँसती है।)

सूरे—तंग मत करो। पैसा नहीं है, न हो। कोई चिन्ता नहीं है। (थोड़ी देर ठहरकर) क्या काम करते हो भाई ?

अफ़ीमची—आजकल तो कुछ नहीं करता।

सूरे—तो खाना-पीना कैसे चलता है ?

अफ़ीमची—कभी-कभी मजूरी कर लेता हूँ। स्टेशन पर हलका-पूरा बोझ जो बाबू लोगों का दस-बीस कदम ले जाना हुआ, तो दो-चार आने मिल जाते हैं।

सूरे—चलो, यह भी ठीक है। किसी तरह पेट पल जाता है। तमाखू तो खाते ही होगे।···चम्पी, देना।

अफ़ीमची—(ध्यान से चम्पी की ओर देखते हुए) तमाखू तो अब नहीं खाता। अब तो मैं सिर्फ अफ़ीम खाता हूँ।

जगेसर—सो तो है ही। अपने राम अभी-अभी यह सोच ही रहे थे कि हो न हो, तुम अफीम जरूर खाते होगे। अच्छा, अफीमची भाई, सुनते हैं, जब तुम लोगों को पीनक लगती है, तब सीधा सुअर्ग दिखलाई पड़ता है।

चम्पी—दिखलाई ही नहीं पड़ता, उसका पूरा-पूरा सुख भी

मिलता है सायद। क्यों ? (मुसकराती है।)

(अफ़ीमची सिर नीचा करके चुप रहता है।)

जगेसर—तभी कुछ पैसे यहाँ इकट्ठे देखकर लालच आ गया होगा। अरे भाई, हम लोगों को किसी तरह जीने दोगे कि नहीं ? नरक-भोग तो कर रहे हैं। तुम लोगों से इतना भी देखा नहीं जाता ? अपना काम-धाम क्यों नहीं देखते ?

(अफ़ीमची उठने लगता है।)

सूरे—(कड़े स्वर में) मैं कहता जाता हूँ, तंग मत करो, और तुम कुछ सुनते नहीं हो ! यह बड़ी खराब बात है। तुम बैठो भाई साहब, इसके कहने पर न जाना।

जगेसर—तुम तो निकल जाते हो गियानियों में। यहा आफ़त तो हम लोगों पर आती है। दुनिया-भर के उठाईगीरे यहीं आकर अपना दाँव लगाते और लम्बे बनते हैं। ख़ियाल नहीं रहा, उस दिन अँधेरी रात में एक आदमी आया था। बड़ी रात तक पास बैठा हुआ बातें करता रहा था। इसी तरह वह भी तो भिन्न-भिन्न बोलता था। उसकी बैठकबाजी का नतीजा यह हुआ कि चलते-चलते वह चम्पी के गड्डी-भर पैसे उड़ा ले गया !

अफीमची—(कुछ अस्त-व्यस्त होता है।) चोरी करने वाले का सत्यानाश हो जाय। (बायीं ओर हटकर थूकता है) उस पर थुड्ड !

जगेसर—(कठोरता से) सत्तियानास तो उसका होगा जिसके

कुछ होगा। जो खुद ही फकीर बना मारा-मारा फिरता है उसका और सत्तियानास क्या होगा?

सूरे—लेकिन तुम जिसको चाहोगे उसी को चोर-उठाईगीर कहने लगोगे, यह भी कोई बात हुई! पिछले पापों से तो कोढ़ी हुए। अब इन पापों से क्या होना चाहते हो?

चम्पी—क्यों बेकार में सूरे के मुँह लग रहे हो, जगेसर? जानते हो, भूल से भी जो कोई बात कह देंगे, तो वह होकर रहेगी।

जगेसर—(उग्र होकर) मैं इसकी परवा नहीं करता। जो कुछ मुझे होना हो, वह हो जाय। लेकिन बात मैं सच्ची ही कहूँगा। जिसको बुरा लगे वह आधी रोटी ज्यादा खा ले।

सूरे—अच्छा तो मैं ही चुप रहता हूँ। चुप क्या, बल्कि मैं यहाँ से चला ही जाता हूँ। अब जो मन में आये, सो करना। (उठकर जाने लगता है।)

चम्पी—(दौड़कर पैर पकड़ लेती है।) ऐसा नहीं हो सकता सूरे भाई! कभी नहीं हो सकता। तुम हम लोगों को छोड़कर कहीं जा नहीं सकते।

जगेसर—मेरी बातों का बुरा मान गए सूरे! देखने के ही सीधे हो। भीतर से हो तुम भी पूरे निरमोही। मैं तो सोचता था, अन्तकाल तक मुझे नहीं छोड़ोगे, लेकिन मेरी आसा झूठ साबित हुई।

सूरे—(कड़ककर) सगी सात भावरों की बैठी तो है सामने, मनुष्य जब ऐसी देवी-सरूपा नारी को लात मार कर बाहर निकाल देता है, तब तुम चीज़ कौन हो जगेसर ! नाता सदा नेह का चलता है। तुम लोग जब मुझे मानते हो, मेरा आदर करते हो, तब मैं तुम्हारा हूँ। लेकिन जब तुम्हारे सिर पर यह भूत सवार हो गया कि मुझसे ज्यादा बुद्धि तुममें आ गई है, इसलिए तुम्हें मेरा कहना मानने की ज़रूरत नहीं, तो फिर मेरा बड़प्पन कहाँ रहा ?

(इधर-उधर से दस-बीस आदमी इकट्ठे हो जाते हैं। अफ़ीमची चम्पी को एक बार फिर ध्यान से देखता है।)

जगेसर—(कुछ सोचता हुआ) सो तो है ही। अपने राम भी अब ठीक रास्ते पर आ गए सूरे ! कहते तुम बिल्कुल ठीक हो। पर मेरा मतलब सिरफ यह था कि तुम वेद को मानते हो; मानते रहो। कुछ फिकर नहीं। लेकिन मुझे भी तो लबेद पर जमा रहने दो !

(सब लोग हँस पड़ते हैं। भीड़ फिर छटने लगती है। धीरे-धीरे सभी आदमी खिसक जाते हैं। वह अफ़ीमची भी चला जाता है।)

चम्पी—बेकार में एक बक-झक हो गई। मेरा जी अभी तक धक्-धक् कर रहा है (उठती है। फिर आगे बढ़कर एक चीथड़े में लिपटी हुई गठ्ठी उठाती है।) अरे ! इसमें तो पैसे जान पड़ते हैं ! (खोलती है।) ये लो एक अठन्नी, दो दुअन्नी और एक पैसा ! (फिर यकायक हतप्रभ होकर वहीं बैठकर रो पड़ती है।)

सूरे—(विस्मय से विमूढ़ होता और कुछ सोचता हुआ) रो मत बेटी। वह फिर आयगा। मुझे विश्वास है, ज़रूर आयगा।

जगेसर—सो तो है ही। अपने राम भी ऐसा ही सोच रहे थे।

(पट-परिवर्तन)

षष्ठ दृश्य

[बलराज का बँगला। प्रातःकाल का समय। बैठक में चारों ओर सोफ़े और कौच हैं। बीच में गोल टेबिल के चारों ओर कल्पना, कामना, बलराज और नवीन बैठे हैं। सबके आगे चाय के प्याले तथा तश्तरियों में मिठाइयाँ और नमकीन चीज़ें रक्खी हुई हैं। लोग चाय पी रहे हैं। इन सामग्रियों को लाती शरबती इधर-से-उधर दौड़ती हुई देख पड़ती है।

कल्पना के पैरों के पास बिल्ला दुबका बैठा है। नवीन चाय पीता हुआ कभी-कभी अवसर पाकर कामना की तश्तरी से कोई चीज़ उठाकर अपनी तश्तरी में रख लेता है। कल्पना एक बार भाँप लेती है। नवीन को देखकर वह मुसकराने लगती है। कामना की दृष्टि बलराज की ओर है और बलराज गम्भीर बना बैठा है।]

कामना—पता नहीं विलास बाबू क्यों नहीं आये। कल स्टेशन पर हम लोगों को लेने आये, फिर रात को कितनी देर तक यहाँ बने रहे। आज साढ़े सात बजे ही आने का वायदा कर गए थे। (चाय का प्याला मुंह से लगा लेती है।)

नवीन—(मिठाई का एक टुकड़ा मुंह में रखते हुए) उन्हें अवश्य आना चाहिए था। उनके बिना यह मंडली अधूरी है।

बलराज—उनका कुछ ठीक नहीं है। भावुक व्यक्ति ठहरे। यहाँ से जाने के बाद भी क्या आश्चर्य ग्रामोफ़ोन ही रात-भर

बजाते रहे हों और सुबह हो जाने पर सोये हों। (प्याला खाली करता है।)

कामना—तुम्हारा अनुमान मुझे बिलकुल ठीक जान पड़ता है।

नवीन—कुछ हो, मुझे वे बहुत पसन्द आते हैं। ऐसा सुन्दर, स्वरूपवान, सहृदय और उदार प्रकृति का आदमी कम-से-कम मेरे मित्रों में कोई नहीं है। (कल्पना की दृष्टि नवीन की ओर जा पहुँचती है।)

कामना—(मुसकराती है।) खैर, गुणों के साथ-साथ दोष भी आदमी में होते ही हैं। यह तो मैं नहीं कह सकती कि वे गुणों के आकार हैं (इधर-उधर देखती हुई) हाँ, इतना निर्विरोध कहा जा सकता है कि वे औसतन अच्छे आदमी हैं।

बलराज—मुझे इस समय विलास बाबू के सम्बन्ध की यह आलोचना पसन्द नहीं आ रही है, निद्रा। मेरा ख़याल है, वे आ रहे होंगे।

(कल्पना बलराज की ओर कुतूहल से देखती है।)

कामना—(बलराज की ओर गम्भीरता से देखती हुई) आखिर तुम चाहते क्या हो बाबू साहब? अभी इस नाटक का और भी कोई दृश्य देखना बाक़ी रह गया है क्या! मुझे निद्रा नाम से क्यों पुकारते हो? कल्पना अभी तुम्हारी ओर घूरती हुई देखने लगी थी। (कल्पना को मुसकराता देखकर) क्यों, क्या इच्छा है?

कल्पना—मिस कामना, अब तुम मुझे बख़्श दो; और ज्यादा तंग मत करो।

नवीन—(दरवाज़े की ओर ध्यान से देखता हुआ) आदमी लौटा नहीं ! (आश्चर्य से) साइकिल पर गया था। अब तक तो आ जाना चाहिए था।

बलराज—घबराने की क्या बात है; आते होंगे। (शरबती चाय देती है।) बस, बस।

कल्पना—(शरबती से) मुझे न चाहिए। आप लीजिये मिस्टर नवीन !

नवीन—धन्यवाद. (शरबती से) हाँ बस।

कामना—क्यों बाबू साहब, आप—हाँ आप मेरा न्याय कर दीजिये। साफ़-साफ़ बतलाइये। मैंने कभी किसी को तंग किया है ?

बलराज—(मुसकराता है) मुझको तो नहीं किया। दूसरे की बात मैं जानता नहीं।

नवीन—(चुपके से कामना की ओर इशारा करके) कामना किसी को तंग नहीं करती। वह तो प्रगति की देवी है। कामना के बिना मनुष्य की गति कहाँ है ! यह बात दूसरी है कि कोई व्यक्ति उसे अपनाकर निद्रित हो उठे।

बलराज—(कल्पना की ओर देखकर मुसकराता हुआ) मैं नवीन से सहमत हूँ।

(कामना और कल्पना परस्पर दृष्टि-विनिमय करती हैं।)

(मुन्ना का प्रवेश)

कल्पना—(ठुड्डी पकड़कर) कहो मुन्ना, तुम्हें शरबती ने चाय दी या नहीं ?

मुन्ना—(कल्पना के पैरों से लिपटकर) वाह ! मुझे तो सबसे पहले मिली है। और विलास बाबू वहाँ तुम्हारे पढ़ने के कमरे में बैठे हैं, दिदिया ! मैंने कहा—वहाँ उस कमरे में सब लोग आपको पूछ रहे हैं और आप यहाँ बैठे हैं; वहीं जाइये। पर वे तो कुछ बोलते ही नहीं। देखो न चलके तुम्हीं !

(कल्पना चौंककर एकदम से स्तब्ध हो जाती है। नवीन, कामना और बलराज एक साथ उठते हैं। बलराज झट से बगल का परदा समेटता है। पीछे-पीछे कल्पना भी चलती है, यद्यपि उसके पैरों में चलने की शक्ति ही नहीं रह गई जान पड़ती। उसे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे पृथ्वी हिल रही है; दीवालें और छतें सिर के ऊपर फट-फटकर गिरना ही चाहती हैं।

विलास उस लायब्रेरी में एक कुरसी पर बैठा है। ब्लाटिंग-पैड पर उसका सिर बायें हाथ के सहारे रखा हुआ है। दाहने हाथ में फ़ाउंटनपेन है। राइटिंग पैड पर कुछ पंक्तियाँ उसने लिख रखी हैं। एक ओर कोने में अधजली रेशमी साड़ी पड़ी है।...क्रम-क्रम से बलराज, नवीन और कामना उसे हिलाते-डुलाते और नाड़ी तथा हृदय की गति की परीक्षा करते हुए अवाक्, हतप्रभ और अवसन्न हो उठते हैं।

कल्पना खड़ी-खड़ी (यह दृश्य देखकर) काँपती हुई, पीछे हटती और फिर दीवाल से लगकर, मूर्छित होकर, वहीं गिर पड़ती है। बलराज तुरंत उसे अपनी बाहुओं पर उठाकर बैठक में पड़े सोफ़े पर लिटा देता है। पीछे-

पीछे नवीन आता है। मुन्ना, उसकी माँ, शरबती तथा अन्य सेवक लायब्रेरी में विलास को घेरकर खड़े हो जाते हैं। कामना सिसकियाँ भरती हुई रो पड़ती है।)

नवीन—(बलराज से) पहले डॉक्टर को बुलाता हूँ, पीछे पुलिस को।

बलराज—लेकिन जल्दी। (कल्पना को ठीक ढग से लिटाता है।)

(रोती हुई कामना का प्रवेश)

बलराज—घबराओ मत कामना, ऐसे समय हमें अधीर नहीं होना चाहिए। कल्पना की रक्षा भी तो एक समस्या है। विलास बाबू तो ख़ैर, धोखा दे ही गए!

(शरबती का प्रवेश)

बलराज—एक शाल ले आना शरबती।

(शरबती का प्रस्थान)

कामना—(आँसू पोंछती हुई) लेकिन इस दुर्घटना का यह स्वरूप कैसा निर्मम है! जिस समय हम लोग उनकी आलोचना कर रहे थे, उसी समय वे परदे के उस पार मृत्यु का आलिंगन कर रहे होंगे। आपने ठीक ही कहा था—वे भावुक आदमी हैं। उनका क्या ठीक!

(शरबती का शाल लिये हुए प्रवेश)

बलराज—मुझे उनकी चेष्टा देखकर कल से ही उन पर संदेह हो रहा था। वे मुझसे तबियत से बोले नहीं। मेरे कुशल-प्रश्न पर केवल 'हाँ-हूँ' कर दिया था।

(शरबती के हाथ से शाल लेकर कल्पना को ढकता है।)

कामना—(फिर आँखों में आँसू भरकर) इतना अधिक प्यार मैंने किसी में नहीं पाया। इतना अधिक दुस्साहस मैंने किसी में नहीं देखा। मृत्यु तक से लड़ने की शक्ति उनमें थी। पत्र में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

मैं सोचता था, मास्टर साहब कल्पना को नहीं पा सके ; मैं पा लूँगा। किन्तु मैं भी उसे पा नहीं सका। कोई उसे सदा के लिए प्राप्त करने का अभिमान कर नहीं सकता। सोचता हूँ, जीवन के उस पार शायद वह मिल जाय।

मैं बहुत प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु के साथ जा रहा हूँ। कोई मेरे लिए दुःखी न हो। मैं दूर रहकर भी सबके भीतर उपस्थित रहूँगा। इस रास्ते से जाना मैंने बहुत सोच-समझकर, अपनी इच्छा से, स्वीकार किया है।

—विलास

बलराज—इस उत्सर्ग ने उन्हें अमर बना दिया। (आँखों में आँसू भरे हैं और कण्ठ से भारीपन प्रकट होता है।)

(इसी समय बिल्ला सोफ़े पर आकर कल्पना के पैरों के पास, शाल में, दुबक रहता है।)

कल्पना—(अस्फुट स्वर में) तुम तो········थे, यह आत्म-हिंसा है।

(बलराज कल्पना के मुख के पास कान लगाकर सुनता है।)

कल्पना—(बुदबुदाती हुई) कायरता है !

कामना—चिन्ता की कोई बात नहीं है। हिस्टीरिया का अटैक है। पहले भी होता रहा है।

कल्पना—(निःश्वास लेती है) मैंने······क्षमा कर दिया था ! पर······नहीं माने। खैर, तुम्हारी······शांति मिले······ यही चाहती हूँ।

बलराज—(अलग होकर) मैं जितना अधिक सोचता हूँ, विलास आज मुझे उतना ही अपने निकट मालूम होता है। इतने थोड़े समय में उसने मुझे अपना आत्मीय बना लिया।

कामना—यह उनका सबसे बड़ा गुण था।

बलराज—(गम्भीरता से) प्रतीत होता है, मनुष्य की आत्मा के साथ विलास का ऐसा ही कुछ सम्बन्ध है। आदर्श का सम्पर्क होते ही वह अन्तर्धान हो जाता है।

कामना—तुम बिलकुल ठीक कह रहे हो।

बलराज—किन्तु कल्पना उसे मृत्यु के बाद भी अपने से पृथक् नहीं कर पाती।

कामना—मेरी भी यही गति है, मिस्टर बलराज !

(कल्पना आँखें खोलती है।)

बलराज—(उसके सिर पर हाथ रखकर) तुम इतनी कोमल हो कल्पना, मैं पहले यह न जानता था। मुझे यह भी पता न था कि तुम्हारी कुछ बातें ऐसी भी होती हैं, जिनमें केवल अतिरंजना रहती है। प्राण-रूप में तुम सर्वथा निर्विकार हो।

(इसी समय एक ओर बिल्ला सिर उठाकर बोल उठता है—म्याऊँ! और दूसरी ओर बलराज के कुछ अश्रुकण कल्पना के मुख और पुतलियों पर जा पड़ते हैं; एक आँसू को वह अपनी आँख में भरकर बलराज की ओर एकटक देखती रह जाती है ।)

(यवनिका-पतन)